वार्षिक रु. ६०.०० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४७ अंक १० अक्तूबर २००९

रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ. ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अक्तूबर २००९

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४७
अंक १०

वार्षिक ६०/– एक प्रति ८/–

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है ।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो । भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें ।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें ।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें ।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता । स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं ।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय ।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा ।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें । वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है ।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं । सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें । यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें ।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें ।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें । उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा ।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है । यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें ।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें ।

वर्ष ४७ अक्तूबर २००९ अंक १०

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

सर्वव्यापृतिकरणं लिङ्गमिदं स्याच्चिदात्मनः पुंसः ।
वास्यादिकमिव तक्ष्णस्तेनैवात्मा भवत्यसङ्गोऽयम् ।। १००

अन्वय – तक्ष्णः वास्य-आदिकम्-इव, चिदात्मनः पुंसः सर्व-व्यापृति-करणं इदं लिङ्गं (शरीरं) स्यात् । तेन एव अयम् आत्मा असङ्गः भवति ।

अर्थ – जैसे बढ़ई (कार्य हेतु) बसुला आदि उपकरणों पर निर्भर करता है, वैसे ही चैतन्य-स्वरूप पुरुष (आत्मा) के सारे व्यावहारिक कर्म इस लिंग (सूक्ष्म) शरीर पर ही निर्भर हैं। इसीलिये आत्मा लिंग शरीर से पृथक् तथा असंग है।

अन्धत्वमन्दत्वपटुत्वधर्माः
सौगुण्य-वैगुण्यवशाद्धि चक्षुषः ।
बाधिर्यमूकत्वमुखास्तथैव
श्रोत्रादिधर्मा न तु वेत्तुरात्मनः ।।१०१।।

अन्वय – हि चक्षुषः सौगुण्य-वैगुण्य-वशात् अन्धत्व-मन्दत्व-पटुत्व-धर्माः (भवन्ति) तथा-एव बाधिर्य-मूकत्व-मुखाः श्रोत्र-आदि-धर्माः तु वेत्तुः – आत्मनः न ।

अर्थ – नेत्रों के गुण-दोष के कारण ही अन्धता, अल्पदृष्टि, तीक्ष्णदृष्टि आदि लक्षण दीख पड़ते हैं; वैसे ही बहरापन, गूंगापन आदि कान आदि के दोष समझो, आत्मा के नहीं।

उच्छ्वास-निःश्वास-विजृम्भणक्षुत्-
प्रस्यन्दनाद्युत्क्रमणादिकाः क्रियाः ।
प्राणादि-कर्माणि वदन्ति तज्ज्ञाः
प्राणस्य धर्मावशनापिपासे ।।१०२।।

अन्वय – उच्छ्वास-निःश्वास-विजृम्भण-क्षुत्-प्रस्यन्दन-आदि-उत्क्रमण-आदिकाः क्रियाः प्राणादि-कर्माणि तज्ज्ञाः वदन्ति । अशना-पिपासे प्राणस्य धर्मौ ।

अर्थ – साँस लेना तथा छोड़ना, जँभाई लेना, छींकना, कफ निकलना तथा देहत्याग – प्राण के कार्य हैं – ऐसा इस विषय के ज्ञाता कहते हैं। भूख तथा प्यास प्राण के धर्म हैं।

अन्तःकरणमेतेषु चक्षुरादिषु वर्ष्मणि ।
अहमित्यभिमानेन तिष्ठत्याभासतेजसा ।।१०३।।

अन्वय – एतेषु चक्षुः-आदिषु वर्ष्मणि 'अहं' इति-अभिमानेन अन्तःकरणम् आभास-तेजसा तिष्ठति ।

अर्थ – शरीर में अन्तःकरण चैतन्य के आभास तथा तेज से युक्त होकर, नेत्र आदि (इन्द्रियों) से और 'मैं' (देखने तथा करनेवाला हूँ – इस) वृत्ति के साथ स्थित रहता है।

अहंकारः स विज्ञेयः कर्ता भोक्ताभिमान्ययम् ।
सत्त्वादिगुणयोगेन चावस्थात्रयमश्नुते ।।१०४।।

अन्वय – सः अहंकारः कर्ता भोक्ता अभिमानी विज्ञेयः । अयम् च सत्त्व-आदि-गुण-योगेन अवस्था-त्रयम् अश्नुते ।

अर्थ –इस अहंकार को, 'मैं भले-बुरे कर्मों का कर्ता तथा सुख-दुःख का भोक्ता हूँ' – इस बोध का अभिमानी समझना। और यही अहंकार सत्त्व आदि गुणों से जुड़कर जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति – नामक तीन अवस्थाओं को प्राप्त होता है।

विषयाणामानुकूल्ये सुखी दुःखी विपर्यये ।
सुखं दुःखं च तद्धर्मः सदानन्दस्य नात्मनः।। १०५

अन्वय – विषयाणां आनुकूल्ये सुखी, विपर्यये दुःखी (भवति); सुखं दुःखं च तत्-धर्मः, सदानन्दस्य आत्मनः न ।

अर्थ – यह अहंकार ही विषयों की अनुकूलता से सुखी तथा उनकी प्रतिकूलता से दुखी होता है। ये सुख तथा दुःख उस अहंकार के गुण हैं; सदानन्दमय आत्मा के नहीं।

❖ (क्रमशः) ❖

विवेकानन्द-वन्दना

– १ –

(गुणकली-कहरवा)

वीरेश्वर शिव उतरे भू पर, लेकर रूप विवेकानन्द ।
शान्ति-प्रतिष्ठा होगी जग में,
मिट जायेंगे भय-छल-छन्द ।।

त्रिविध शान्ति का कर-त्रिशूल धर,
वेद-वृषभ पर आरोहण कर;
चतुर्योग का डमरु बजाते,
विचरण किया विश्व सानन्द ।। शान्ति.।।

ज्ञान-जाह्नवी सिर से उतरी,
शत-शत धाराओं में बिखरी;
हर-हर-हर की मृदु ध्वनि करती,
हरती धरती के दुख-द्वन्द ।। शान्ति.।।

मोचन करने जन-लोचन-जल,
पीते रहे स्वयं हालाहल;
सबको मुक्ति-मार्ग दिखलाया,
सारा जग 'विदेह' स्वच्छन्द ।। शान्ति.।।

– २ –

(यमन-कहरवा)

श्रीरामकृष्ण चरणारविन्द, मधुपान निरत सानन्द ।
हे नर-नारायण के पूजक, आचार्य विवेकानन्द ।।

हे योगीश्वर, हे ज्ञानसिन्धु, हे परम भक्त, हे दीनबन्धु,
सागर समाधि के स्नातक हे, सच्चित्-स्वरूप सुखकन्द ।।

हे जगज्जयी, हे जगपावन, हे जनसेवक, हे जन-जीवन,
युगधर्म यंत्र के वादक हे, नव राग-ताल नव छन्द ।।

पूरब की प्रज्ञालोक लिए, तुम पश्चिम जाकर उदित हुए,
अज्ञान-तिमिर-भय नाशक हे, आदित्य सतेज अमन्द ।।

सेवा का अभिनव मंत्र दिया, जन-मन को शुद्ध-स्वतंत्र किया,
प्रज्ञा का फैलाया 'विदेह', सुन्दर सुवास-मकरन्द ।।

मानव-रूपी ईश्वर की पूजा

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

तुम्हीं ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ मन्दिर हो। मैं किसी मन्दिर, किसी प्रतिमा या किसी बाइबिल की उपासना न करके तुम्हारी ही उपासना करूँगा। कुछ लोग इतना परस्पर-विरोधी विचार क्यों रखते हैं?... लोग कहते हैं, हम ठेठ प्रत्यक्षवादी हैं; ठीक है, परन्तु तुम्हारी उपासना करने की अपेक्षा और अधिक प्रत्यक्ष क्या हो सकता है? मैं तुम्हें देख रहा हूँ, तुम्हारा अनुभव कर रहा हूँ और जानता हूँ कि तुम ईश्वर हो।... मनुष्य-देह में स्थित मानव-आत्मा ही एकमात्र उपास्य ईश्वर है। वैसे पशु भी भगवान के मन्दिर हैं, पर मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है – ताजमहल जैसा। यदि मैं उसकी उपासना नहीं कर सका, तो अन्य किसी मन्दिर से कुछ भी उपकार नहीं होगा। जिस क्षण मैं प्रत्येक मनुष्य-देह रूपी मन्दिर में विराजित ईश्वर की उपलब्धि कर सकूँगा, जिस क्षण मैं प्रत्येक मनुष्य के सम्मुख भक्तिभाव से खड़ा हो सकूँगा और वास्तव में उसमें ईश्वर को देख सकूँगा, जिस क्षण मेरे अन्दर यह भाव आ जाएगा, उसी क्षण मैं सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाऊँगा।[७५]

दूसरा प्रश्न यह है कि आत्मा या ईश्वर की प्राप्ति के बाद क्या होता है?... धर्म की इस प्रत्यक्षानुभूति से जगत् का पूरा उपकार होता है। लोगों को भय होता है कि जब वे यह अवस्था प्राप्त कर लेंगे, जब उन्हें ज्ञान हो जाएगा कि सभी एक है, तब उनके प्रेम का स्रोत सूख जाएगा, जीवन में जो कुछ मूल्यवान है, वह सब चला जाएगा, इस जीवन में और पर-जीवन में जो कुछ उन्हें प्रिय था, उसमें से कुछ भी न बचा रहेगा। पर लोग एक बार भी यह सोचकर नहीं देखते कि जो लोग अपने सुख की चिन्ता की ओर से उदासीन हो गये हैं, वे ही जगत् में सर्वश्रेष्ठ कर्मी हुए हैं। मनुष्य तभी वास्तव में प्रेम करता है, जब वह देखता है कि उसके प्रेम का पात्र कोई क्षुद्र मर्त्य जीव नहीं है। मनुष्य तभी वास्तविक प्रेम कर सकता है, जब वह देखता है कि उसके प्रेम का पात्र एक मिट्टी का ढेला नहीं, अपितु स्वयं साक्षात् भगवान हैं। स्त्री यदि यह समझे कि उसके पति साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप हैं, तो उससे और भी अधिक प्रेम करेगी। पति भी यदि यह जाने कि स्त्री स्वयं ब्रह्म-स्वरूप है, तो वह भी स्त्री से अधिक प्रेम करेगा। सन्तान को ब्रह्म-स्वरूप देखनेवाली माताएँ अपनी सन्तान से अधिक स्नेह कर सकेंगी। जो लोग यह जानेंगे कि उनके शत्रु साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप हैं, वे लोग अपने महान् शत्रुओं के प्रति भी प्रेमभाव रख सकेंगे। जो लोग यह समझेंगे कि साधु व्यक्ति साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप हैं, वे ही लोग पवित्र लोगों से प्रेम करेंगे। जो लोग यह जान लेंगे कि इन महादुष्टों के भी पीछे वे प्रभु ही विराजमान हैं, वे अत्यन्त अपवित्र व्यक्तियों से भी प्रेम करेंगे। जिनका क्षुद्र अहं पूर्णतः मर चुका है और उसके स्थान पर ईश्वर ने अधिकार जमा लिया है, वे लोग ही जगत् के प्रेरक हो सकते हैं। उनके लिये समग्र विश्व दिव्य भाव से रूपान्तरित हो जाता है। जो कुछ भी दु:खकर या क्लेशकर है, वह सब उनकी दृष्टि से लुप्त हो जाता है, सभी प्रकार के द्वन्द्व और संघर्ष समाप्त हो जाते हैं। तब यह जगत्, जहाँ हम प्रतिदिन रोटी के एक टुकड़े के लिये झगड़ा और मारपीट करते हैं, उनके लिये कारागार होने के बदले एक क्रीड़ाक्षेत्र बन जाता है। तब जगत् बड़ा सुन्दर रूप धारण कर लेता है। ऐसे ही व्यक्ति को यह कहने का अधिकार है कि 'यह जगत् कितना सुन्दर है!' उन्हीं को यह कहने का अधिकार है कि सब मंगल-स्वरूप है।

धर्म की इस प्रत्यक्ष उपलब्धि से जगत् का महान् हित यह होगा कि ये अविराम विवाद, द्वन्द्व आदि सब दूर हो जाएँगे और जगत् में शान्ति का राज्य हो जाएगा। यदि जगत् के सभी लोग आज इस महान् सत्य के एक बिन्दु की भी उपलब्धि कर सके, तो उनके लिये यह सारा जगत् एक दूसरा ही रूप धारण कर लेगा और सारा झगड़ा समाप्त होकर शान्ति का राज्य आ जाएगा। यह घिनौना उतावलापन, यह स्पर्धा – जो हमें अन्य सबों को ठेलकर आगे बढ़ निकलने के लिये बाध्य करती है, इस संसार से उठ जाएगी। इसके साथ-साथ सब प्रकार की अशान्ति, घृणा, ईर्ष्या तथा सभी प्रकार की बुराइयाँ सदा के लिये चली जाएँगी। तब इस जगत् में देवता लोग निवास करेंगे। तब यही जगत् स्वर्ग हो जाएगा। जब देवता देवता से खेलेगा, देवता देवता से मिल कर कार्य करेगा, देवता देवता से प्रेम करेगा, तब क्या इसमें बुराई ठहर सकती है? ईश्वर की प्रत्यक्ष उपलब्धि की यही एक बड़ी उपयोगिता है। समाज में तुम जो कुछ भी देख रहे

हो, वह सब तब परिवर्तित होकर एक दिव्य रूप धारण कर लेगा। तब तुम किसी मनुष्य को बुरा नहीं समझोगे। यही प्रथम महालाभ है। उस समय तुम लोग किसी अन्याय करनेवाले बेचारे नर-नारी की ओर घृणापूर्ण दृष्टि से नहीं देखोगे। ... तब तुममें ईर्ष्या अथवा दूसरों पर शासन करने का भाव नहीं रहेगा; वह सब चला जाएगा। तब प्रेम इतना प्रबल हो जाएगा कि फिर मानव-जाति को सत्पथ पर चलने के लिये चाबुक की आवश्यकता नहीं रह जाएगी।

यदि संसार के नर-नारियों का लाखवाँ भाग भी बिल्कुल चुप रहकर एक क्षण के लिये कहे, "तुम सभी ईश्वर हो, हे मानवो, हे पशुओ, हे सब प्रकार के जीवित प्राणियो ! तुम सभी एक जीवन्त ईश्वर के प्रकाश हो !" तो आधे घण्टे के अन्दर ही सारे जगत् का परिवर्तन हो जाय। तब सभी देशों के लोग चारों ओर घृणा के बीज न बोकर, ईर्ष्या और असत् चिन्ता का प्रवाह न फैलाकर, सोचेंगे कि सभी 'वह' है। जो कुछ तुम देख रहे हो या अनुभव कर रहे हो, वह सब 'वही' है। तुम्हारे भीतर बुराई न रहने पर, तुम बुराई कैसे देखोगे? तुम्हारे भीतर यदि चोर न हो, तो तुम किस प्रकार चोर देखोगे? तुम स्वयं यदि खूनी नहीं हो, तो किस प्रकार खूनी देखोगे? साधु हो जाओ, तो तुम्हारे भीतर से असाधु-भाव एकदम चला जाएगा। इस प्रकार सारे जगत् का परिवर्तन हो जाएगा। यही समाज का सबसे बड़ा लाभ है। मनुष्य के लिये यही महान् लाभ है।[७६]

संसार में ज्ञान के प्रकाश का विस्तार करो। प्रकाश ! सिर्फ प्रकाश लाओ ! प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करे। जब तक सब लोग भगवान के निकट न पहुँच जायँ, तब तक तुम्हारा कार्य पूरा नहीं हुआ है। गरीबों में ज्ञान का विस्तार करो, धनिकों पर और भी अधिक प्रकाश डालो; क्योंकि निर्धनों की अपेक्षा धनिकों को अधिक प्रकाश की आवश्यकता है। अपढ़ लोगों को भी प्रकाश दिखाओ। शिक्षित मनुष्यों के लिये और अधिक प्रकाश चाहिये, क्योंकि आजकल शिक्षा का मिथ्याभिमान खूब प्रबल हो रहा है। इसी तरह सबके निकट प्रकाश का विस्तार करो। और शेष सब भगवान पर छोड़ दो, क्योंकि स्वयं भगवान के शब्दों में –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। गीता, २/४७

– कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, फल में नहीं; तुम इस भाव से कर्म मत करो जिससे तुम्हें फल-भोग करना पड़े। तुम्हारी प्रवृत्ति कर्म त्याग करने की ओर न हो।[७७]

स्वयं पर विश्वास

विश्वास – यही महानता का एकमात्र रहस्य है। यदि पुराणों में कहे गये तैंतीस करोड़ देवताओं के ऊपर; और विदेशियों ने बीच-बीच में जिन देवताओं को तुम्हारे बीच घुसा दिया है, उन सब पर भी, यदि तुम्हारी श्रद्धा हो और अपने आप पर श्रद्धा न हो, तो तुम कदापि मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकते।[१]

संसार का इतिहास उन थोड़े से व्यक्तियों का इतिहास है, जिनमें आत्मविश्वास था। यह विश्वास अन्त:स्थित देवत्व को ललकार कर प्रकट कर देता है। तब व्यक्ति कुछ भी कर सकता है, सर्वसमर्थ हो जाता है। असफलता तभी होती है, जब तुम अन्त:स्थ अमोघ शक्ति को अभिव्यक्त करने का यथेष्ट प्रयत्न नहीं करते। जिस क्षण व्यक्ति या राष्ट्र आत्मविश्वास खो देता है, उसी क्षण उसकी मृत्यु आ जाती है।[२]

जिसमें आत्मविश्वास नहीं है, वही नास्तिक है। प्राचीन धर्मों के अनुसार जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है। नूतन धर्म कहता है, जो आत्मविश्वास नहीं रखता, वही नास्तिक है।[३]

यह कभी न सोचना कि आत्मा के लिये कुछ भी असम्भव है। ऐसा सोचना ही भयानक नास्तिकता है। यदि पाप नामक कोई वस्तु है, तो यह कहना कि मैं दुर्बल हूँ या अन्य कोई दुर्बल है – यही पाप है।[४]

तुम जो कुछ भी सोचोगे, वही हो जाओगे। यदि तुम अपने को दुर्बल समझोगे, तो दुर्बल हो जाओगे; बलवान सोचोगे, तो बलवान हो जाओगे।[५]

इन असफलताओं, इन त्रुटियों के रहने में हर्ज भी क्या है? मैंने गाय को कभी झूठ बोलते नहीं सुना, पर वह सदा गाय ही रहती है; मनुष्य कभी नहीं हो जाती। अत: यदि बार-बार असफल हो जाओ, तो भी क्या? कोई हानि नहीं। हजार बार इस आदर्श को हृदय में धारण करो; और यदि हजार बार भी असफल हो जाओ, तो एक बार फिर प्रयत्न करो।[६]

दुर्बलता का उपचार सदैव उसका चिन्तन करते रहना नहीं है, वरन् बल का चिन्तन करना है।[७]

सन्दर्भ-सूची – ७५. विवेकानन्द साहित्य (१९६३), खण्ड ८, पृ. २९-३०; **७६.** वही, खण्ड २, पृ. ३९-४१; **७७.** वही, खण्ड ५, पृ. १४२; **स्वयं पर विश्वास – १.** वही, खण्ड ५, पृ. ८६; **२.** वही, खण्ड ९, पृ. १९५; **३.** वही, खण्ड ८, पृ. १२; **४.** वही, खण्ड ८, पृ. १८; **५.** वही, खण्ड ५, पृ. २९; **६.** वही, खण्ड २, पृ. १५६; **७.** वही, खण्ड ८, पृ. ११

❖ (क्रमशः) ❖
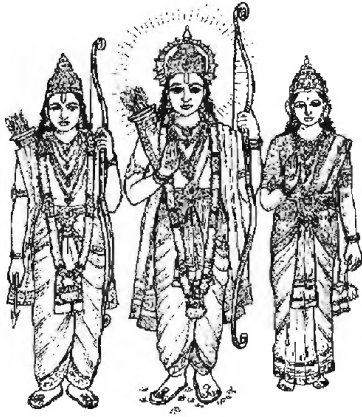
नाम की महिमा (३/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९८७ ई. में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'नाम-रामायण' पर जो प्रवचन हुए थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

महर्षि विश्वामित्र के साथ श्रीराम तथा लक्ष्मण की जो यात्रा होती है, उसमें गोस्वामीजी ने इन तीनों को लिया है – ताड़का-वध, अहल्या-उद्धार और शंकरजी का धनुष टूटना।

इसी यात्रा में भगवान राम और सीताजी का विवाह भी होता है। विवाह भी कई पद्धतियों से होता है। पहले पुष्प-वाटिका में भगवान श्रीराम तथा सीताजी मन से एक-दूसरे का वरण करते हैं। उसके पश्चात् धनुषयज्ञ में धनुष टूटता है और सीताजी जयमाल के माध्यम से श्रीराम का वरण करती हैं। तदुपरान्त अयोध्या से बारात बुलाई जाती है और फिर शास्त्रीय विधि से वेदमंत्रों के माध्यम से कन्यादान के रूप में विवाह सम्पन्न होता है। पर इस विवाह की भी अन्तिम परिणति पर आप ध्यान देंगे।

भक्ति के दो रूप हैं – वैधी और रागानुगा। धुरी के दो केन्द्र हैं – एक वैधी भक्ति और दूसरा रागानुगा। मण्डप में जो विवाह हो रहा है, इसमें विधि की प्रधानता है। ब्रह्मा स्वयं आकर विवाह की विधियों का संकेत करते हैं। ब्रह्मा का नाम विधि है। ब्रह्मा जो विधि बताते हैं, उसी के अनुसार शास्त्रों के मंत्र का उच्चारण करते हुए विवाह सम्पन्न हुआ –

कहि बिबाह बिधि देहिं ।। १/३२३

पर विवाह के बाद दूल्हे को एक ऐसे मण्डप में ले जाया गया, जहाँ न गुरु वशिष्ठ हैं, न सतानन्द हैं, न वेदों का कोई मंत्र है और न कोई पुरुष। यह सांकेतिक भाषा है। उन्हें पहले विवाह के मण्डप में ले जाया जाता है और उसके बाद कोहबर में। इसका तात्पर्य यह है कि जब हम शास्त्र-विधि से भगवान की भक्ति की महिमा को जानकर दोनों को जीवन में मिलाते हैं, यह भी भक्ति है; परन्तु इसका अन्तरंग आनन्द वहाँ है, जहाँ न शास्त्र हो, न विधि हो और न कोई पुरुष हो। किसी पुरुष के न होने का तात्पर्य क्या है? यहाँ केवल शरीर के रूप में पुरुष और स्त्री देखने की जरूरत नहीं है। यहाँ अभिप्राय यह है कि वैधी भक्ति तक तो मनुष्य में पुरुषवृत्ति बनी रहती है, पर जब रागानुगा भक्ति का उदय होता है, तो पुरुषवृत्ति मिट जाती है। पुरुषवृत्ति में अधिकार की वृत्ति है। पुरुष का सहज स्वभाव अधिकार से जुड़ा हुआ है और स्त्री की वृत्ति समर्पण की वृत्ति है। वस्तुत: भक्ति की पराकाष्ठा तब है, जब हमारे अन्त:करण में पूर्ण समर्पण की वृत्ति आ जाय; अधिकार-वृत्ति के अहंकार का लेश तक न रह जाय।

विवाह सम्पन्न हो जाने के बाद स्त्रियाँ चारों दूल्हों को कोहबर में ले जाती हैं। वहाँ चारों भाई अपने-अपने आसन पर बैठे हैं और स्त्रियाँ भी बैठी हुई हैं। यहाँ पर वेदमंत्र की जगह रागानुगा भक्ति के मंत्र बोले जाने लगे।

वेदमंत्रों में भगवान की बड़ी स्तुति की जाती है, पर यहाँ श्रीगणेश कैसे हुआ? स्वभाव से श्रीराम बड़े संकोची हैं, बड़े शीलवान हैं, दृष्टि नीचे किए बैठे हैं। आँख उठाकर न देखना उनका स्वभाव है। ब्रह्म के रूप में उनका न देखना स्वभाव है – जो पूर्ण है, वह स्वयं को छोड़कर किसको देखेगा? जो आत्माराम है, वह अपने आप में ही पूरी तरह डूबा हुआ है, इसलिए भी नहीं देख रहे हैं। व्यवहार में इतने शीलवान और संकोची हैं कि दृष्टि उठाकर नहीं देख रहे हैं।

श्री सीताजी मूर्तिमती भक्ति हैं और उनकी सखियाँ, भक्ति के साथ रहनेवाली भावनाएँ हैं। प्रेम तथा भावना की भाषा, शास्त्र की भाषा से बिलकुल भिन्न है। सखी के मन में आया कि किसी तरह इनका संकोच छुड़ाना चाहिए, इसलिए उसने बोलना शुरू किया। कोहबर में यही पहला वाक्य श्रीराम के कानों में गया – "सखि, संसार भर के राजा जनकपुर में आए, पर अयोध्या के इस राजकुमार जैसा घमण्डी कोई नहीं आया।" वेद की भाषा में ईश्वर को घमण्डी कौन कहेगा? वहाँ तो स्तुति की जाती है, ईश्वर के गुणों का वर्णन किया जाता है, पर इनकी तो प्रेम की भाषा है। कहते हैं – प्रेम की भाषा सीधी नहीं होती, साँप के जैसी टेढ़ी-मेढ़ी चलती है –

अहिन्योगति प्रेम्णा स्वभाव कुटिला गती ।।

दूसरी ने पूछा – "तुम्हें कैसे पता चला कि बड़ा घमण्डी है?" पहली बोली – "देखो, घमण्डी अपने आप में ही डूबा रहता है। लगता है इनको अपनी सुन्दरता का इतना घमण्ड है कि अपने को छोड़कर किसी की ओर देख ही नहीं रहे हैं। यदि घमण्ड न होता, तो हम लोगों की ओर भी तो देखते कि आसपास कौन बैठा हुआ है !" वेदान्त का ब्रह्म आत्मलीन है, पर भक्तों की ईश्वर से माँग होती है कि हमारी ओर कृपा-दृष्टि हो। दैन्य की भाषा में कृपा शब्द का प्रयोग होता है, पर

उद्देश्य तो यही है कि श्रीराम किसी तरह हमारी ओर देखें।

प्रभु के होंठों पर हँसी आई, तो सखियों को आनन्द हुआ – चलो, कुछ तो आनन्द की अभिव्यक्ति हुई। प्रभु ने मौन रहकर आनन्द लिया, परन्तु लक्ष्मणजी बड़े तेजस्वी स्वभाव के हैं। उनसे नहीं रहा गया। उन्होंने तुरन्त सखी से पूछ लिया – "आप लोगों ने पहली बार श्रीराम के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है। आज तक किसी ने भी हमारे प्रभु को घमण्डी नहीं कहा। लेकिन आप लोग कहती हैं, तो ठीक है; मैं मानता हूँ कि झूठी बात पर गर्व नहीं करना चाहिये; परन्तु जिसमें इतना सौन्दर्य है, इतनी सामर्थ्य है, इतनी विशेषता है; यदि उनमें गर्व हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? जिनका इतना अद्वितीय विश्वमोहन सौन्दर्य है, यदि वे अपने को सर्वश्रेष्ठ सुन्दर मानें, तो इसमें बुराई है क्या? जिन्होंने धनुष तोड़कर अपने पराक्रम का परिचय दिया, वे स्वयं को पराक्रमी मानें, तो इसमें बुराई है क्या?"

सखियों के पास इसका भी उत्तर था। एक सखी ने सोचा – अच्छा! तो इनको अपनी सुन्दरता का गर्व है? वह श्रीराम से बोली – "जरा इधर सीताजी की ओर दृष्टि डाल लीजिए, तो अपनी सुन्दरता का आपका सारा गर्व समाप्त हो जायेगा। आप तो सीताजी की छाया जैसे लगते हैं।"

गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माँहि।
आपन मूरति देखहु सिय की छाँहि ।। बरवै. १७

इसे गोरे और श्याम वर्ण के रूप में ले लीजिए। व्यक्ति गोरा है, पर छाया तो काली ही होगी। "आपके सौन्दर्य को देखकर लगता है कि आप सीताजी के सौन्दर्य के प्रतिबिम्ब मात्र हैं।" सौन्दर्य का मूल केन्द्र तो सीताजी हैं। फिर छाया व्यक्ति के पीछे ही तो चलती है। भगवान यदि भक्ति के पीछे चलते हैं, तो भक्ति की छाया ही तो हुए। सखी बोली – "सीताजी की ओर देखिए, तो गर्व दूर हो जायेगा।" लक्ष्मणजी से नहीं रहा गया। वे बोल उठे – "आप लोगों को याद है न, तब तक धनुष नहीं टूटा था, जब तक हमारे प्रभु की भुजा का सूर्य उदित नहीं हुआ था, तब तक आप सब लोगों की कैसी दशा हो गई थी? तब उन्होंने कितना महान् पौरुष दिखाया!"

सखी भी हार माननेवाली नहीं है, तुरन्त बोली – "धनुष-यज्ञ की याद दिलाने के पहले पुष्प-वाटिका की याद करो। तुम दोनों भाई पुष्प-वाटिका में आए थे? वहाँ फूल ही तो तोड़ा गया था। फिर जब श्रीराम दोने में फूल लेकर सामने आये, तो उनकी क्या दशा थी! माथे पर पसीने की बूँदें –

भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए ।। १/२३३/३

सखी ने व्यंग्यपूर्वक कहा – "जिसको फूल तोड़ने में पसीना आ गया, वह धनुष तोड़ सकता है? कौन विश्वास करेगा?" – तब? बोली – "वह तो हम लोगों के आँसू थे, हमारी प्रार्थना ने ही इनसे धनुष तुड़वा दिया। सीताजी और हम लोगों को इनकी सुकुमारता पर दया आ गई थी और हमने मिलकर प्रार्थना की कि धनुष को हल्का कर दीजिए –

होहु प्रसन्न महेस भवानी ।।
गननायक बरदायक देवा।
आजु लगें कीन्हिउँ तुअ सेवा ।।
बार बार बिनती सुनि मोरी।
करहु चाप गुरुता अति थोरी ।। १/२५७/५,७-८

धनुष टूटना सीताजी और हम लोगों की प्रार्थना की विशेषता है, या तुम्हारे राजकुमार के बल की?"

यह भी एक सैद्धान्तिक विवाद है – सब कुछ कौन करता है? ईश्वर करता है या शक्ति करती है। श्रीराम करते हुए दिखाई तो देते हैं, पर वस्तुत: ब्रह्म अकर्ता है; करनेवाली तो शक्ति ही है। बिना शक्ति के कोई क्रिया सम्पन्न नहीं होगी। यहाँ भी सखियों के उत्तर में व्यंग्य भी है और दार्शनिक दृष्टि से सत्य भी है।

अब लक्ष्मणजी ने अपने अन्तिम अस्त्र का प्रयोग किया। वे बोले – "अच्छा, ईश्वर की सामर्थ्य यह है कि वह जड़ को चैतन्य और चैतन्य को जड़ बना सकता है –

जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य।
अति समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य ।। ७/११९

और आप लोगों ने सुना होगा कि जब प्रभु आ रहे थे, तो उनके चरण के स्पर्श से पाषाणी अहल्या चैतन्य हो गयी। वहाँ तो आप लोगों में से कोई नहीं था, अत: आप लोगों की प्रार्थना का कोई प्रश्न ही नहीं है। वहाँ प्रभु ने अहल्या का जो उद्धार किया, यह तो उनके सामर्थ्य का परिचायक है न!"

सखी ने तत्काल चौथा प्रश्न कर दिया – "क्या अयोध्या में कोई पत्थर नहीं था? क्या इसके पहले उन्होंने कभी किसी पत्थर का उद्धार किया था? क्या किसी जड़ को चैतन्य बनाया था? अरे, चरण में चमत्कार होता, तो अयोध्या में भी दो-चार पत्थर बदलकर नारी हो जाते; पर चमत्कार तो धूल में था। याद रखना, वह धूल जनकपुर के मार्ग की थी। इसलिए यह चमत्कार तो इस धूल का था।"

रावरे दोषु न पायन को,
पगधूरि को भूरि प्रभाउ महा है ।। कविता. २/७

लक्ष्मणजी ने एक प्रश्न और किया – "यदि चमत्कार धूल में था, तो अहल्या न जाने कब से धूल में ही तो पड़ी हुई थी। धूल में गुण होता, तो वह उसे पहले ही चैतन्य बना देती। चमत्कार धूल में बिलकुल नहीं था।"

प्रश्न उठा – चमत्कार चरण में है, या धूल में? भगवान राम तो मुस्कुराते हुए दोनों पक्षों की बातचीत का आनन्द ले रहे हैं। सखियाँ बोलीं – "ठीक है, ये राजकुमार तो निष्पक्ष होंगे; इन्हीं से पूछ लिया जाय कि चमत्कार किसका है?

श्रीराम दोनों से हटकर बोले – "चरण का भी नहीं और धूल का भी नहीं, चमत्कार तो गुरुजी का है। आप लोग उन्हें भुलाकर केवल इसी ओर दृष्टि डाल रही हैं। क्योंकि यदि चरण है पर धूल नहीं, तो भी चैतन्यता नहीं आयेगी; और धूल है पर चरण नहीं, तो भी चैतन्यता नहीं आयेगी। अगर गुरु विश्वामित्र नहीं होंगे, तो धूल को चरण के साथ मिलाकर चैतन्य करने की प्रेरणा ही उत्पन्न नहीं होगी।

बुद्धि के साथ एक समस्या है। बुद्धि में जहाँ अनेक गुण हैं, वहीं बुद्धिमान व्यक्ति में बड़ी शुष्कता और नीरसता आ जाती है। सीताजी का जन्म जनकपुर में तब हुआ, जब वहाँ अकाल पड़ा हुआ था। भौतिक दृष्टि से इसे चाहे जिस अर्थ में देखें, पर आध्यात्मिक दृष्टि से इसका अर्थ यह है कि संसार में वेदान्त की निर्गुण-निराकार निष्ठा के सर्वश्रेष्ठ केन्द्र जनकपुर में विश्व के महानतम ज्ञानी और तत्त्वज्ञ जनक का राज्य है। वहाँ अकाल पड़ने पर महाराज जनक को वर्षा की चिन्ता होती है – पानी कैसे बरसे। तात्पर्य यह कि जब वेदान्त बहुत अधिक आ जाता है, तो शुष्कता की धूल उड़ने लगती है; और तब भक्ति-रूपी वर्षा की जरूरत पड़ती है –

बरषा रितु रघुपति भगति ... । १/१९

तो जहाँ बुद्धि होगी, वहाँ तर्क होगा और वहाँ व्यक्ति में भावुकता का अभाव होगा। बहुधा दिखाई देता है कि जो लोग बड़े भावुक होते हैं, वे बुद्धि से दूर भागते हैं; और जो बड़े बुद्धिमान होते हैं, वे हर बात को यह कहकर काट देते हैं कि यह तो भावुकता की कोरी कल्पनाएँ हैं। भावुकता की बात को हम प्रमाण नहीं मानते। सत्य तो यह है कि यदि हम बुद्धि का प्रयोग नहीं करेंगे, तो हमारी भावना का आधार सुदृढ़ नहीं होगा। पर यदि हम भावना का प्रयोग नहीं करेंगे, तो बुद्धि में जो सूखापन है, नीरसता है, उसका क्या परिणाम होगा? मान लीजिये कि आप कई घण्टे जल न पीएँ। कई लोग व्रत में चौबीस घण्टे जल नहीं पीते, लेकिन प्यास को आप कितनी देर रोकेंगे? चौबीस घण्टे के बाद तो आप फिर से जल पीयेंगे ही ! इसी प्रकार बुद्धि की शुष्कता के साथ-साथ मन में एक प्यास भी होती है; और बुद्धिमान व्यक्ति संसार के मिथ्यात्व के चिन्तन द्वारा मन की प्यास को दबाता है, उसका विरोध करता है। कहता है – ये विषय मिथ्या हैं, भोग मिथ्या हैं, उधर जाना ठीक नहीं। इस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति मन को दबाता है। परन्तु मन कब तक दबा रहेगा? मन का विचित्र स्वभाव है। वह अवसर ढूँढ़ता रहता है।

काम के आक्रमण के सन्दर्भ में देखें, तो जो योगी थे उन्होंने मान लिया था कि हमने मन को मार दिया है। मन से जिसका जन्म हुआ है, उसका नाम मनोज है। योगियों ने कहा – न मन रहेगा और न मनोज रहेगा। योग की महत्ता इसीलिए है कि मन की सत्ता को किसी प्रकार से समाप्त कर दें। पर गोस्वामीजी ने बड़ा विचित्र सूत्र दिया कि जब काम ने भगवान शंकर पर आक्रमण करने हेतु अपना बाण चलाया, तो काम चैतन्य हो गया। जहाँ मन होगा, वहीं तो काम चैतन्य हुआ होगा। जो लोग अपने मन को मरा हुआ समझते थे, उन्हीं में काम चैतन्य हो उठा –

जागइ मनोभव मुएहुँ मन ।। १/८६ छंद

यह मनोज अर्थात् कामदेव, मन का बड़ा आज्ञाकारी बेटा है। बड़े-से-बड़े साधक को लगता तो यही है कि हमने मन की सत्ता को समाप्त कर दिया है, तो फिर मनोज कहाँ आयेगा? जिस समय काम का आक्रमण होता है, उस समय उसका मन भी दिखाई देता है या नहीं ! यह मन मरा-वरा नहीं था। तो इस मन की समस्या का समाधान कैसे होगा?

भक्ति-मार्ग की धूल से। इसका तात्पर्य? आगे चलकर भगवान से अहल्या की जो बातचीत हुई, उसमें आपको इसका सूत्र मिलेगा। अहल्या बड़ी बुद्धिमती है, पर एक दिन वह छली गई। एक दिन भोग-लालसा उसे नीचे की ओर ले गई। और तब भगवान के चरण-धूलि से उसका उद्धार हुआ। इस चरण-धूलि से क्या तात्पर्य है? आगे चलकर अहल्या के वाक्य में आता है – 'पद कमल परागा'। भगवान के चरण की तुलना कमल से की जाती है। कमल को जब आप उंगली से छूते हैं, तो उसमें आपको एक प्रकार की पीले रंग की धूल मिलेगी, जिसे पराग कहते हैं। यह पराग और मकरन्द ही कमल का सार है।

हम सब लोगों के मन में इस भक्ति-भावना का रस रहता ही है। यदि मनुष्य के अन्तर्मन की भक्ति तथा भावना का रस भगवान के चरणों से न जुड़े, तो वह किसी-न-किसी के चरणों से तो जुड़ा ही होगा। किसी-न-किसी के सामने हम झुके हुए हैं। परन्तु भक्ति को, भक्ति के जो केन्द्र हैं, उन्हें समर्पित होना है। भक्तिमार्ग की अनुरागमयी वृत्ति ही पराग है। यदि भगवान हों और अनुराग न हो। ईश्वर के चरण होते हुए भी यदि उसमें भक्तिपथ के अनुराग की धूल नहीं लगी, तो हमारी भोगासक्ति नहीं मिटेगी, हमारी जड़ता नहीं मिटेगी; और जब तक इस मन की प्यास नहीं बुझेगी, तब तक मन बीच-बीच में हमें धोखा देता रहेगा। अहल्या के साथ यही हुआ। गौतम के शाप का तात्पर्य यह था कि तुमने इतने दिनों तक धर्मपूर्वक मेरी सेवा की; और तुम बड़ी बुद्धिमती हो, तो भी छली गई। अब तुम्हारे जीवन में तभी परिवर्तन हो सकता है, जब तुम अपनी अनुरागमयी वृत्ति के साथ ईश्वर के चरणों से जुड़ोगी। तब तुम्हारे जीवन में कभी जड़ता नहीं आयेगी, भोगासक्ति नहीं आयेगी।

बुद्धि की शुष्कता को मिटाने के लिए भक्ति के रस की आवश्यकता है, अनुराग-पराग की आवश्यकता है। अहल्या के जीवन में यही परिवर्तन हुआ। अहल्या पत्थर थी और

भगवान के चरणों का स्पर्श होते ही उसमें प्रेम का प्रवाह हुआ। पत्थर के दो संकेत मिलते हैं – प्रह्लाद का प्रसंग और अहल्या का प्रसंग। जब गुरुजी ने भगवान से कहा – राम, तुम अहल्या को चैतन्य करो। गुरु जब शिष्य से कुछ कहता है, तो मानो वह शिष्य की परीक्षा लेता है। आज ईश्वर की परीक्षा हो रही है। विश्वामित्र ने राम से कहा – "आज तुम्हारी विशेष परीक्षा है। सतयुग में प्रह्लाद के रूप में एक ऐसा भक्त हुआ, जिसने पत्थर से तुम्हें प्रगट कर दिया था और अब त्रेतायुग में तुम भी पत्थर से एक भक्त को प्रगट करके दिखाओ, तभी तुम्हारा ईश्वरत्व सार्थक होगा। कृपा और प्रेम। ईश्वर यदि पत्थर को चैतन्य कर दे, तो यह उसकी कृपा है और भक्त यदि पत्थर से भगवान को प्रगट कर दे, तो यह उसका प्रेम है। प्रेम और कृपा का सामंजस्य चाहिये। जब जीव के हृदय में प्रेम का संचार होता है और भगवान की कृपा होती है, तो इन दोनों के द्वारा ही परिवर्तन होता है। अहल्या ने चैतन्य होकर देखा कि वह भगवान के चरण-स्पर्श से चैतन्य हो गई है; और वह केवल चरण का नहीं, चरण-धूलि का स्पर्श था। भगवान के चरण और उनमें धूल-अनुराग – इन दोनों के सामंजस्य से यह चैतन्यता आती है।

चैतन्य होने के बाद अहल्या ने श्रीराम की ओर देखा। श्रीराम आँखें झुकाए खड़े थे। वे अपने को उद्धारक मानने का गर्व नहीं पालते। यह बहुत बड़ी बात है। लोग बिना उद्धार किए ही स्वयं को उद्धारक मानने का गर्व पाल लेते हैं, पर उद्धार करने के बाद भी श्रीराघवेन्द्र में उद्धारक होने का कोई गर्व नहीं है। बल्कि वे दृष्टि नीची किये हुए संकोच से खड़े हैं। क्यों? लक्ष्मणजी ने एकान्त में श्रीराम से पूछा – अहल्या-उद्धार के बाद आप इतने संकोच में क्यों गड़ गये? प्रभु बोले – मेरे सामने बड़ी कठिन स्थिति आ गई थी।

चरण और सिर का संयोग ही प्रणाम है। जब आप प्रणाम करते हैं, तो चरण और सिर मिल जाते हैं। परन्तु चरण और सिर का मिलन दो तरह से हो सकता है। या तो आप किसी के चरणों में अपना सिर रख दें, नहीं तो कोई अपना पैर उठाकर आपके सिर पर लाद दे। पर दोनों में बड़ा अन्तर है। चरणों में सिर रख दिया, तो सिर का बोझ उतारकर चरणों में डाल दिया, पर यदि चरण सिर पर लाद दिया, तब तो वह बोझ बनकर नयी समस्या बन गयी। यदि कोई स्वयं अपनी ओर से आपका आदर करे, तब तो चरण और मस्तक की मिलन बिलकुल सार्थक है, परन्तु बलपूर्वक आप अपना बड़प्पन किसी पर लादें और कहें कि हम बड़े हैं इसको तुम स्वीकार करो, मेरे सामने झुको ! यह ठीक नहीं।

श्रीराम बोले – उल्टी बात हो गई। अहल्या महर्षि गौतम की पत्नी थीं, पर मैं क्या करूँ, गुरुदेव का आदेश तो टाल नहीं सकता था, अतः अहल्या के मस्तक पर मैंने अपना चरण रख दिया – इसी का मुझे संकोच है।

सिला साप संताप बिगत भइ
परसत पावन पाउ ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय
चरण छुए को पछिताउ ।। विनय. १००/४

अहल्या ने भगवान श्रीराम के संकोच को जान लिया और बड़ी सुन्दर बात कही। बोली – "प्रभो, आपने मेरे ऊपर जो चरण रख दिया, इसका संकोच न कीजिएगा। आपने शंकरजी पर कृपा की और जब वही व्यवहार आप मुझसे करने चले, तो लगा कि यह लोगों को अमर्यादित लगेगा कि जहाँ कामारि (शिव) को और कामग्रस्ता (अहल्या) को एक ही वस्तु दी जाय, तो यह अन्धाधुन्ध दरबार वाली बात होगी। आपने सोचा कि पहले अहल्या को शंकर बना दें, तो दोनों बराबर हो जाएँगे। शंकरजी की विशेषता यह है कि उनके सिर पर गंगा है और मुझे शंकर बनाने के लिए आपने मेरे सिर पर उन चरणों को रख दिया, जिनसे गंगा निकली हैं –

जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता
प्रगट भई सिव सीस धरी ।
सोइ पद पंकज जेहि पूजत अज
मम सिर धरेउ कृपाल हरी ।। १/२११

यह आपकी कितनी बड़ी कृपा है। इतनी बड़ी कृपा करके भी आपको स्वयं में ही कमी दिखाई दे रही है !

अहल्या में जड़ता से चेतनता आ गई। गोस्वामीजी प्रभु से बोले – **सहस सिलाहु ते** – मेरी बुद्धि हजारों अहल्याओं से भी अधिक जड़ है। प्रभु ने पूछा – हजारों अहल्या का क्या अर्थ हुआ? गोस्वामीजी बोले – महाराज, यदि कोई एक बार भोगासक्ति में जाकर जड़ हो जाय, वह अहल्या है और यहाँ बुद्धि-रूपी अहल्या रोज नये-नये रूपों में वही आचरण कर रही है, तो इस अहल्या का तो कोई ठिकाना ही नहीं है।

अहल्या ने कहा – महाराज, अब मैं पतिदेव के साथ जा रही हूँ, पर अब मुझे स्वयं पर भरोसा नहीं रह गया है। मैंने एक बार धोखा खाया, तो फिर खा सकती हूँ। आप एक काम कीजिए, इस बार मैं वह वस्तु लेती जाऊँगी, जिससे आगे चलकर यह जड़ता की समस्या ही न आये। – क्या? बोली – "मेरा मन भौंरा है और भौंरे को रस चाहिए। यदि अच्छा रस नहीं मिला, तो बुरे रस की ओर जायेगा; मेरे मन में भी, कहीं-न-कहीं रस-कामना शायद बची रह गयी हो, अतः आप मुझे वरदान दीजिए कि मैं आपके चरण-कमलों के पराग-रूपी दिव्य रस को पाकर धन्य हो जाऊँ –

पद कमल परागा रस अनुरागा
मम मन करई मधुप पाना ।। १/२११/छंद

मेरा मन भ्रमर वह दिव्य रस पीता रहे। इससे मेरे मन की

(शेष अगले पृष्ठ पर)

आत्माराम के संस्मरण (१६)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

घोघा बन्दर

घोघा पहुँचकर संन्यासी ने समुद्र में स्नान किया और बैठा हुआ सोचने लगा कि जगदम्बा की क्या इच्छा है! एक स्थानीय व्यक्ति ने आकर – 'ॐ नमो नारायण' – कहा और पूछने पर जब पता चला कि संन्यासी अभी-अभी वहाँ पहुँचा है, तो बोले – "कृपा करके मेरे घर चलिये। सत्संग किया जायेगा और आप वहीं भिक्षा भी ग्रहण करेंगे।" संन्यासी के राजी होने पर वहीं थोड़ी देर प्रतीक्षा करने को कहते हुए बोला कि स्वयं बुलाकर ले जायेगा।

उसके जाने के बाद एक अन्य व्यक्ति आया और 'नमो नारायण' करके अपने घर ले जाने का आग्रह करने लगा। वह ब्राह्मण था। संन्यासी ने जब बताया कि एक अन्य व्यक्ति को वचन दे चुका है, तो उसने पूछा – "वह क्या देखने में ऐसा-ऐसा था? क्या उसके सिर पर ऐसी पगड़ी थी?" – "हाँ" – कहने पर वह बोला – "आप तो संन्यासी हैं, आपकी जो इच्छा! परन्तु उस शिव-मन्दिर के पास ही मेरा घर है, रात में यदि कोई असुविधा हो, तो आ जाइयेगा, रहने की व्यवस्था हो जायेगी।" इतना कहकर वह चला गया।

थोड़ी देर बाद पूर्वोक्त व्यक्ति आकर बुलाकर साथ ले गया। काफी बड़ा घर था। विशाल आंगन में ४-५ भैंसे बँधी हुई थीं। बीच के खाली जगह में मेरे बैठने के लिये एक खाट बिछा दी और स्वयं भी एक खटिया बिछाकर बैठ गया। बातचीत से पता चला कि उसने 'विचार-सागर' नामक वेदान्त-ग्रन्थ पढ़ रखा था। अच्छा प्रेमी भक्त आदमी था, यद्यपि वेदान्त-चर्चा करता था।

दो घण्टे बाद खाने का बुलावा आया। संन्यासी के साथ वह भी भोजन के लिये बैठा। एक बड़े कटोरे में गाढ़ा किया हुआ भैंस का बिल्कुल शुद्ध दूध और छोटे-छोटे चावलों का भात दिया गया था। संन्यासी खूब तृप्ति के साथ खा रहा था, तभी गृहिणी एक बड़े थाले में थाले के ही आकार की और एक इंच मोटी रोटी (या रोटला) दे गयी। संन्यासी ने इसके पहले कभी इतनी बड़ी रोटी नहीं देखी थी। पेट तो भात खाकर ही भर चुका था, परन्तु वह रोटी भी थोड़ी चखने की इच्छा हुई। संन्यासी ने कहा – "पूरा तो नहीं खा सकूँगा, एक टुकड़ा देने को कहो।" गृहपति ने – "ओह, इतना नहीं खायेंगे, ठीक है" – कहकर थाली को अपनी ओर खींचा और जूठे हाथों से ही आधी रोटी को तोड़ लिया और निश्चिन्त भाव से खाने लगा।

संन्यासी तो अवाक् रह गया। सोचने लगा – लगता है इसीलिये उस ब्राह्मण ने कहा था कि 'आप संन्यासी हैं, आपकी जो इच्छा!' अस्तु। संन्यासी उस रोटी को न लेकर दूध-भात खाकर ही उठ गया। उसके बाद गृहपति के खाकर

पिछले पृष्ठ का शेषांश

शुष्कता मिटेगी, प्यास मिटेगी; और बुद्धि में केवल तर्क-विचार के स्थान पर उसमें दिव्य रस का संचार होगा।"

इस प्रकार अहल्या चैतन्य हो जाती है। नाम-साधना में भी इसी की आवश्यकता है। 'रा' और 'म' दो अक्षर मानो राम के दो चरण हैं। परन्तु जब तक हम लोग नाम-भगवान के साथ भक्ति-मार्ग की धूल (अनुराग) को नहीं मिलाएँगे, तब तक काम नहीं बनेगा। हम नामजप तो कर रहे हैं, 'राम' शब्द का उच्चारण कर रहे हैं, पर बुद्धि में चैतन्यता इसीलिए नहीं आ रही है कि रामनाम के साथ भक्तिपथ की उस धूल – अनुराग का स्पर्श नहीं हुआ है। जब हम अनुराग-भरे अन्त:करण से प्रेरित होकर, प्रेम से ओत-प्रोत होकर जप करेंगे, तब उसका सही परिणाम होगा।

हम गुरुदेव से प्रार्थना करें – आप तो नाम की महिमा से परिचित हैं, इसलिये आप ही नाम-भगवान से बुद्धि की जड़ता को दूर करने की प्रार्थना करें। इस प्रकार नाम की महिमा का ज्ञान, नाम की महिमा को बतानेवाला और नाम का अनुरागपूर्वक उच्चारण – इन तीनों के सामंजस्य से ही बुद्धि-रूपी अहल्या का उद्धार होता है। भगवान राघवेन्द्र ने सखियों के सामने इसी बात का संकेत किया – चरण और धूल के साथ तुम गुरुदेव को मत भूलो।

पहले तो हम यह निश्चय करें कि सच्चे अर्थों में हम नाम से क्या पाना चाहते हैं और सन्तों या सद्गुरु से पाकर जब हम अनुरागपूर्वक भगवान का नाम लेते हैं, तो नाम-भगवान हमारी बुद्धि की जड़ता को दूर कर देते हैं। ❖ **(क्रमश:)** ❖

आ जाने पर फिर विविध प्रकार की सच्चर्चा होने लगी।

गृहिणी भी भोजन करके एक खटिया लाकर पास ही बैठी। माँ की जाति होने के कारण महिलाओं का बड़ा ध्यान रहता है; उसने गृहपति से कहा – "देखो, स्वामीजी ने भरपेट खाना नहीं खाया। लगता है कि रोटला में से तोड़ लेने पर वे उसे नहीं खाते।"

गृहपति – "स्वामीजी, मैंने रोटी को छूआ था, क्या इसीलिये आपने उसे नहीं खाया?"

संन्यासी – "पेट तो दूध-भात खाकर ही भर गया था। रोटी तो केवल थोड़ी-सी चखने की इच्छा हुई थी, परन्तु उसे जूठा हो जाने के कारण नहीं लिया।

गृहपति – "कहाँ! मैंने तो उसे जूठा नहीं किया। उसमें से केवल एक टुकड़ा तोड़ लिया था।"

संन्यासी – "हम लोगों का संस्कार भिन्न प्रकार का है। उस प्रकार खाये हुए हाथ से स्पर्श करने से ही जूठा माना जाता है। आप लोगों का क्या इससे जूठा नहीं होता?"

गृहपति – "मुख से काटने से जूठा होता है, अन्यथा जूठा नहीं होता।"

संन्यासी – "अच्छा, तो समझा – इस अंचल की यही रीति-रिवाज है! संन्यासी को जूठे हाथ से स्पर्श किया हुआ अन्न नहीं देना चाहिये।"

गृहपति – "हमारे देश के जो साधु-सन्त हैं, उनके आने पर ही हम लोग सेवा करते हैं, परन्तु उन्होंने कभी ऐसी कोई बात नहीं कही। बड़े दुख की बात है कि आपका ठीक से खाना नहीं हुआ। मैं तो समझ ही नहीं सका था, परन्तु उसने ठीक पकड़ लिया। आपके कहते ही दूसरी रोटी बना देती।"

संन्यासी ने उन्हें तरह-तरह से समझाने की चेष्टा की, परन्तु वे लोग नहीं माने और बताया कि अगले दिन भरपेट खिलाने के बाद ही जाने देंगे।

देशाचार में भेद होता है। इसमें उन लोगों का कोई दोष नहीं था। परन्तु इससे लाभ यह हुआ कि उन दोनों ने प्रतिज्ञा की कि आगे से वे कभी ऐसा नहीं करेंगे।

भावनगर तथा द्वारका की ओर

अगला दिन वहीं बिताकर तीसरे दिन सुबह संन्यासी भावनगर के लिये रवाना हुआ। वहाँ से ट्रेन में पोरबन्दर और फिर द्वारका जायेगा। रास्ते में तेज धूप से बड़ा कष्ट हो रहा था। ४-५ मील चलने के बाद एक सुन्दर बावड़ी (सीढ़ीवाला कुँआ) मिली और उसके पास ही एक विशाल वटवृक्ष था। संन्यासी ने बावड़ी के जल में स्नान किया और वृक्ष के नीचे आश्रय लिया। सोचा कि धूप घटने पर फिर चलना आरम्भ करेंगे। रास्ते के एक ओर बड़ी दूरी पर एक गाँव दिख रहा था। वटवृक्ष के पास ही एक कब्र थी और वहाँ एक फकीर भी रहते थे। संन्यासी आराम से लेटा था।

फकीर ने आकर कहा – "खाने का समय हो गया है। मेरी रोटियाँ तैयार हैं। आप हिन्दू हैं, इसीलिये कहने में संकोच हो रहा था। यदि आपत्ति न हो, तो आइये।" संन्यासी उदार था, बोला – "कोई आपत्ति नहीं है। केवल मांस-मछली नहीं खाता। नहीं तो, एक फकीर द्वारा दूसरे फकीर के साथ भिक्षा पाने में क्या आपत्ति हो सकती है!"

ज्वार की रोटी और बिना मसाले की प्याज की सब्जी। संन्यासी ने सब्जी को ज्योंही मुख में डाली, त्योंही उसे इतने खराब स्वाद का अनुभव हुआ कि शरीर गिनगिना उठा। किसी प्रकार एक मोटी रोटी को गले से उतार लिया, परन्तु सब्जी नहीं खा सका। मन में शंका हुई कि सब्जी सम्भवत: तेल की जगह चर्बी में पकाई गयी होगी। अस्तु। उसे उसकी उदारता के लिये धन्यवाद देने के बाद संन्यासी पुन: वटवृक्ष के नीचे जाकर सो गया। शरीर की गिनगिनाहट दूर नहीं हो रही थी। इसके बाद उल्टी हुई, तो भी राहत नहीं मिल रही थी। शाम को पैदल चलकर भावनगर पहुँचा। तो भी जी मिचला रहा था। ऐसा दो-तीन दिन रहा।

भावनगर से ट्रेन द्वारा पोरबन्दर – सुदामापुरी गया।

पोरबन्दर से द्वारका

संन्यासी पोरबन्दर (काठियावाड़) से पैदल द्वारका जा रहा है। उन दिनों जामनगर तक रेल लाइन थी।

पोरबन्दर से नाव में आधा मील खाड़ी पार करके संन्यासी समुद्र के किनारे-किनारे चला जा रहा था। उस समय संध्या हो रही थी। सोचा कि रात समुद्र के किनारे बालू के ऊपर बिता लेगा। ऊपर आकाश में चन्द्रोदय हो रहा था। दृश्य बड़ा सुन्दर था। इसके बाद उसे एक लम्बा मकान तथा एक छोटी-सी कुटिया दीख पड़ी। कुछ नाथपन्थी (कनफटा) बैठकर चरस तथा गाँजे का दम ले रहे हैं। रात को वहाँ ठहरा जा सकता है क्या? – देखने गया। संन्यासी को सादर आमंत्रित करते हुए बोले – "हाँ, हाँ, खूब रह सकते हैं।"

– "रात को संन्यासी भोजन आदि नहीं करता।"

– "तो थोड़ा-सा दूध पी लीजियेगा।"

– "हाँ, वह चल सकता है।" रास्ता चलने के कारण थोड़ी भूख भी लग आयी थी।

संन्यासी ने बाहर सुन्दर स्वच्छ बालुकाराशि पर चादर बिछाकर सोने की व्यवस्था कर ली थी।

सभी आश्रमवासी इसी प्रकार बाहर ही शयन करते थे, क्योंकि वर्षा ऋतु की शुरुआत थी और कमरों के भीतर काफी गर्मी होती थी, परन्तु बाहर समुद्र की हवा से रात ठण्डी रहती थी।

चलने की थकान के कारण संन्यासी को निद्रा आ गयी थी। काफी रात गये एक जन बुलाने आये – "महाराज, चलिये, महन्त जी बुला रहे हैं।" संन्यासी ने सोचा कि दूध पिलाने के लिये बुलाते होंगे। इसीलिये बोला – "जाने की जरूरत है क्या? कृपा करके दूध यहीं ला दीजिये न !"

– "नहीं, नहीं, वे बुला रहे हैं। चलिये।"

हार मानकर संन्यासी चल पड़ा।

धुँआ भरा हुआ एक कमरा – बीच में लाल कपड़े से ढँका हुआ एक दीपक जल रहा था। कई लोग गोलाकार पंक्ति में बैठे थे। महन्तजी की बगल में एक स्थान खाली था। महन्त बोले – "आइये, यहाँ बैठिये।" सुरा की गन्ध उठ रही थी। चक्र में दो-तीन महिलाएँ भी बैठी थीं।

– "ओह ! यह तो तांत्रिक चक्र है ! आप लोग वाममार्गी हैं ! ज्ञात होने से यहाँ नहीं ठहरता। मुझे इसमें क्यों बुलाया?"

शोरगुल मच गया – "अरे, भूल हो गयी, सब कुछ बिगड़ गया।"

संन्यासी बाहर आकर सोचने लगा कि तत्काल अपना आसन लेकर कहीं समुद्र के किनारे चला जाय। नहीं तो यदि पकड़कर मारने लगें, तो क्या किया जायेगा? उसके बाद सोचा – "नहीं, बताकर जाना ही उचित होगा। इन लोगों से भूल हुई है। मैंने तो यह भूल की नहीं है। देखा जाय, जो होना है सो होगा !"

यही निश्चित करके संन्यासी लेट गया। नींद भला कैसे आती ! इस सुन्दर निर्जन स्थान में ये लोग इन्हीं सब कर्मों में लिप्त हैं ! वामाचार का मार्ग पंकिल होता है। साधना के नाम पर व्याभिचार चलता है। इनमें सच्चे साधक बहुत कम ही होते हैं। बंगाल के तो गाँव-गाँव में ये लोग जमे हुए हैं, पर देखता हूँ कि इस अंचल में भी हैं। वैसे महन्त तो बिहार का या उत्तर भारतीय है। परन्तु हाँ, नाथ सम्प्रदाय में भी अनेक वाममार्गी हैं। ये लोग गुप्त रूप से रहते हैं। अस्तु।

बड़ी देर बाद, लगभग सुबह के समय महन्त आये। नशे में चूर थे। संन्यासी की बगल में ही उनका बिस्तर लगा हुआ था। आकर उस पर लेट गये और बोले – "नाराज हैं क्या? आप बंगाली हैं, इसीलिये सोचा कि तांत्रिक होंगे। बंगाल के लोग तो तांत्रिक होते ही हैं, तंत्रक्रिया में प्रवीण होते हैं। इसीलिये मुझसे भूल हुई, जो आपसे पूछा नहीं। बुरा मत मानियेगा और कृपा करके यह बात गाँव में मत कहियेगा। नहीं कहेंगे न?"

संन्यासी – "अभी जाकर सो जाइये, सुबह बातें होंगी। वैसे मैं आपको बता देना चाहूँगा कि मैं भोर होते ही चला जाना चाहता हूँ।" इसके बाद वे अस्पष्ट-सा कुछ बोले और फिर निद्रा के वशीभूत हो गये। सुबह होने पर संन्यासी किसी की प्रतीक्षा किये बिना ही द्वारका की ओर रवाना हो गया।

संन्यासी ने द्वारका में ही चातुर्मास्य किया। वहीं पर मठ से सूचना मिली कि पू. हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) महासमाधि में लीन हो गये हैं।

द्वारका के अनुभव

द्वारका में संन्यासी पहले तो समुद्र के किनारे ईंटों से निर्मित एक छोटी-सी गुफा में ठहरा था। बाद में वर्षा आ जाने से नमी बढ़ गयी और इस कारण शरीर में खूब पीड़ा हुई, क्योंकि वह बालू के ऊपर ही लेटता था। पहनने के दो कपड़े थे और एक मोटी चादर थी, जो शरीर पर ओढ़ने और जरूरत पड़ने पर बिछाने के भी काम आती थी।

बूढ़ी माँ ने कहा – "बीमार पड़ जायेंगे। मन्दिर के पीछे पुराने शंकराचार्य मठ के ध्वंशावशेष में ऊपर दो कमरे हैं। नीचे उनकी गोशाला है। पास में ही कुँआ है और पुजारियों के लिये शौचालय भी है। वहाँ के लोगों से कहकर, मठ (गद्दी) के मैनेजर से अनुरोध करके उसी कमरे को ठीक कर लेने से फिर चातुर्मास्य में कोई कष्ट नहीं होगा।"

संन्यासी राजी हुआ। कमरा देखकर अच्छा ही लगा। पत्थर का मकान था। ऊपर दो बड़े कमरे थे। नीचे हाल में मठ की गायें रहती थीं। दीवार से लगी हुई पत्थर की छोटी -छोटी फर्शियाँ, सीढ़ियों का काम देती थीं। स्थान खूब निर्जन और मन्दिर के ठीक पीछे कम्पाउण्ड के भीतर ही था।

वृद्धाओं को भी भोजन लाने तथा समाचार लेने की सुविधा थी, क्योंकि सभी लोग दोनों समय मन्दिर में दर्शन करने आते हैं। मठ का एक बूढ़ा नौकर था। उसने सब साफ-सूफ कर दिया और छोटे से दीपक में थोड़ा-सा तेल डालने के बाद वहाँ रखकर बोला – "आप यहाँ क्यों आये? यह तो भुतहा मकान है। उस पास के कुँए में बहुत-से लोग मरे हैं, इसीलिये कोई यहाँ रह नहीं पाता।" आदि आदि।

संन्यासी हँसकर बोला – "पाँच भूतों के साथ तो हमेशा ही निवास होता रहता है, दो-चार और भी सही !" वह बिना कुछ समझे-बूझे ही चला गया। किसी भी कमरे में दरवाजा नहीं था। घुसने के लिये चौखट मात्र है। संध्या के बाद संन्यासी ने दीपक जलाई और बैठकर सोचने लगा – सम्भव है कि यह मठ श्री शंकराचार्य के समय का ही हो। इसमें न जाने कितने साधु-संन्यासी ठहरे होंगे और कितनी शास्त्र-चर्चाएँ हुई होंगी ! बाकी सारे भवन नये प्रतीत होते हैं।

उसके बाद दीपक बुझ गया और दल-के-दल चमगादड़ों ने कमरे में घुसकर मानो क्रीड़ा में उन्मत्त होकर चारों ओर घूमना आरम्भ कर दिया। कभी-कभी वे संन्यासी के शरीर पर भी गिर पड़ते। सारी रात इसी प्रकार बीती। नींद नहीं हुई।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

जाको राखे साँइयाँ

रामेश्वर टांटिया

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कलकत्ता आये। कोलकाता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमश: उन्नति करते हुए मुम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष भी हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे। आप सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' के प्रबन्ध निदेशक भी थे। आपने १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है 'रामेश्वर टांटिया समग्र' ग्रन्थ के कुछ अंश। – सं.)

दिल्ली में मई-जून में भयंकर गरमी पड़ती है। रेत की आँधियाँ शुरू हो जाती हैं। कभी-कभी तो पारा ११६ डिग्री फैरेनहाइट तक पहुँच जाता है। १९६२ ई. की बात है, उस वर्ष की गर्मी शायद पिछले पचास-साठ वर्षों में अधिकतम थी। गरम लू से आसपास के गाँवों में प्राय नित्य ही एक-दो व्यक्तियों के मरने के समाचार आते रहते थे। वैसे इन दिनों लोकसभा का सत्र नहीं रहता, परन्तु उस वर्ष मार्च में चुनाव सम्पन्न हुये थे, इसलिये अधिवेशन मई से अगस्त तक था।

मेरी पत्नी और १२ वर्ष का छोटा पुत्र राजू दिल्ली में थे। वे प्राय: कलकत्ता में ही रहते थे, इसलिये उनके लिये यह गर्मी एक नई बात थी। रात में हम लोग बँगले के बाहर के बगीचे में बहुत-सा पानी छिड़ककर सोते, परन्तु जमीन से आग-सी निकलती और १२ बजे तक नींद नहीं आती। पड़ोस के लोग शिमला, मसूरी या कश्मीर जाने लगे। पत्नी और राजू का आग्रह था कि हमें भी कश्मीर चलना चाहिये। एक तो इसलिये कि पहले ही मेरा छोटा भाई सपरिवार वहाँ गया हुआ था और दूसरे उन्होंने कभी कश्मीर देखा नहीं था।

मई की २३ तारीख को हम लोग पठानकोट-एक्सप्रेस से रवाना हुए। मेरे पास एक नयी एम्बेसेडर कार के सिवाय १९४५ मॉडल की एक स्टूडीबेकर स्टेशन-वैगन गाड़ी थी।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

वे सब उसी मकान में रहते हैं, नवागन्तुक से परिचित नहीं हैं, जान लेने पर सावधान हो जाते और इस प्रकार उसके शरीर पर नहीं पड़ते।

संन्यासी अगले दिन भोर में स्नान आदि करके बैठा हुआ था, देखा कि वही वृद्ध नौकर धीरे-धीरे झाँककर देख रहा था। पहले उसका सिर प्रगट हुआ, उसके बाद धीरे-धीरे भीतर आया। बूढ़े ने सम्भवत: देखा नहीं। संन्यासी बैठा-बैठा देख रहा था। आँखों से आँखें मिलते ही वह हँस पड़ा। – "क्या बात है, इस प्रकार क्यों देख रहे हो" – "देख रहा हूँ कि जीवित हैं क्या और किस हालत में हैं? रात में हम लोगों की बात हुई थी कि भूतों का उपद्रव अवश्य होगा और तब या तो मृत्यु होगी और नहीं तो बीमारी – दोनों में एक तो होगा ही। इसीलिये देखने आया हूँ। तो क्या आपको कुछ दिखाई नहीं दिया?"

संन्यासी – "अरे, क्या कहते हो ! दिखाई नहीं दिया? सारी रात देह पर आकर पड़ रहे थे। नींद कैसे आती – ऊपर आ-आकर पड़ रहे थे।" – "ऐं, कहते क्या है?" – कहकर ही बूढ़ा भाग गया। बस, उसके बाद एक-एक करके मन्दिर के पुजारी लोग, मठ के मैनेजर तथा अन्य बहुत-से लोग आकर संन्यासी से पूछने लगे – "सचमुच ! आपके ऊपर आ-आकर गिर रहे थे और आपको डर नहीं लगा !" परन्तु मजे की बात यह है कि किसी ने यह नहीं पूछा कि क्या आ-आकर आपके ऊपर पड़ रहा था।

इसके बाद वह वृद्धा माता दल-बल के साथ हाजिर हुई – "क्या स्वामीजी, आपके ऊपर आ-आकर पड़ा था, तो आपने क्या किया, आपको भय नहीं लगा ! परन्तु ...।"

संन्यासी – "मैं भी भला क्या करता? सारी रात हाथ हिला-हिलाकर भगा रहा था। ऐसा करने से भला नींद कैसे आती ! कुछ दिन दीपक की थोड़ी और अच्छी व्यवस्था हो जाने पर वे लोग ऊपर आकर नहीं पड़ेंगे।" बूढ़ी माँ – "हाथ हिला-हिलाकर भगा रहे थे, तो वे सब कौन थे?"

संन्यासी – "चमगादड़ ! पुराना मकान होने के कारण यह उन्हीं की बस्ती है। मैं नया-नया आया हूँ, इसलिये उन्हें सूचना नहीं थी, इसलिये वे लोग उड़-उड़कर शरीर पर पड़ रहे थे। दीपक रहने से शरीर पर नहीं पड़ेंगे।"

वृद्धा – "हे भगवान, सब लोग सोच रहे हैं कि भूत थे। तो ऐसी बात है। आपने ऐसे ढंग से कहा कि वह बूढ़ा भय से काँपते हुए सबसे यही कहता फिर रहा है !"

संन्यासी – "कहाँ? उसने तो मुझसे पूछा ही नहीं कि क्या आ-आकर पड़ रहा था, नहीं तो मैं उसे बता देता। आपने पूछा, तो आपको बता दिया।"

सब लोग खूब हँसने लगे। ❖ (क्रमशः) ❖

पत्नी ने उस पुरानी गाड़ी के बदले में नयी एम्बेसेडर ले जाने को कहा, परन्तु मैंने देखा कि उस बड़ी गाड़ी में सारा सामान और सब लोग आराम से चले जायेंगे; और फिर गाड़ी बेचनी भी थी, इसलिये क्यों न उसी से काम लिया जाय। रवाना होने से दो दिन पहले उसे नौकरों के साथ भेज दिया गया। पठानकोट स्टेशन पर मोटर गाड़ी तैयार मिली और संयोग से वहीं पर हमारे वयोवृद्ध मित्र श्री मुनीश्वरदत्त उपाध्याय एम.पी. भी मिल गये। गाड़ी में जगह थी, इसलिये उन्हें भी साथ बैठा लिया। जम्मू से आगे जब चढ़ाई शुरू हुई, तो गाड़ी हर पाँच मील पर गरम होने लगी और हम उसमें पानी डालते रहे। कभी-कभी सब मिलकर उसे ठेलते भी रहे। यद्यपि उपाध्यायजी काफी वृद्ध थे, परन्तु संकोचवश वे भी इसमें सहायता देते रहे। ३०-३५ मील जाने के बाद एक खड़ी चढ़ाई पर अड़कर गाड़ी रुक गयी।

काफी चेष्टा करने पर भी वह आगे नहीं बढ़ नहीं रही थी। पास के गाँव में एक छोटा-सा गाड़ी-मरम्मत का कारखाना था। थोड़ी देर में ही बहुत-से लोग इकट्ठे हो गये। उनमें दो-एक मिस्त्री भी थे। वे हँसकर कहने लगे – ''सेठजी, इस गाड़ी को तो आपको विन्टेज कार-रैली (बहुत पुरानी मोटर-गाड़ियों की दौड़-स्पर्धा) में भेजनी चाहिये थी। कहाँ यह पहाड़ों की चढ़ाई, कहाँ यह बेचारी बूढ़ी गाड़ी! मुझे उनकी बातें सुनकर गुस्सा और झेंप हो रही थी, परन्तु चुपचाप सुनने के सिवा चारा भी क्या था! पत्नी भी उलाहना देने लगी कि आपने सोचा, नई गाड़ी खराब हो जायेगी, इसलिये मेरे रोकने के बावजूद इस खटारे को ले आये। उस दिन दिशाशूल था, इसका भी विचार आपने नहीं किया।

आखिर एक घण्टे की कड़ी मेहनत के बाद मोटर रवाना हुई। पहले और दूसरे गेयर में चलाते हुए, किसी तरह दूसरे दिन शाम तक हम लोग श्रीनगर पहुँच गये। १०-१५ दिन वहाँ रहने के बाद समाचार मिला की दिल्ली में वर्षा हो गयी है। हमने वापस लौटने का प्रोगाम बनाया। पत्नी और राजू की इच्छा थी कि हवाई जहाज से चलें, परन्तु मैं फिजूल में ६००/- रु. खर्च नहीं करना चाहता था। मैंने उन्हें समझाया कि आते समय तो मोटर की खराबी के कारण रास्ते के दृश्य ठीक से नहीं देख पाये थे, परन्तु अब ठहरते हुए चलेंगे। स्टूडीबेकर को वहाँ छोड़कर हम लोग वहाँ से एक नयी एम्बेसेडर में रवाना हुए।

जब हम बठोठ के पास पहुँचे, तब तक शाम हो गई थी। रास्ते के किनारे कोट-पैंट पहने एक युवक खड़ा था। उसने हाथ के गाड़ी रोकने का संकेत किया। हमने गाड़ी रोक ली। कहने लगा कि बड़ी कृपा होगी यदि आप मुझे अगले गाँव तक पहुँचा देंगे। मैं अपना ठेकेदारी का काम सँभालने आया था। यहाँ देर हो गयी सारी ट्रकें पहले ही जा चुकी हैं। हमारे पास जगह थी। युवक की वेश-भूषा और बातचीत का भी प्रभाव पड़ा। हमने उसे गाड़ी में बैठा लिया।

हमारा ड्राइवर पहाड़ों के लिये नया था, इसलिये गाड़ी धीरे-धीरे चला रहा था। थोड़ी देर बाद युवक ने कहा कि मेरा इन पहाड़ों में गाड़ी चलाने का नित्य का अभ्यास है, अगर आप कहें तो मैं चलाऊँ। इससे ड्राइवर को भी आराम मिल जायेगा और बठोठ भी कुछ जल्दी पहुँच जाएँगे।

हमें ऐसा लगा कि युवक का वह रास्ता पूरी तौर पर जाना हुआ है। अत: गाड़ी चलाने का कार्य उसी को दे दिया गया। वह ३५-४० मील की स्पीड से गाड़ी चलाने लगा। पहाड़ों में मोड़ने की भी उसे अच्छी तरह जानकारी थी।

थोड़ी देर बाद गहरा उतार आया, गाड़ी की रफ्तार बढ़ी। फिर एक घुमावदार मोड़ आया और गाड़ी युवक से बेकाबू होकर तेजी से सामने के खड्ड की तरफ बढ़ी।

आसन्न मृत्यु को सामने पाकर मनुष्य किस प्रकार का हो जाता है, इसका मुझे उसी दिन पता चला। सामने तीन-चार हजार फीट गहरा खड्ड अजगर की तरह मुँह बाये था और गाड़ी उसी तरफ बढ़ रही थी। उस कड़ी सर्दी में हम सभी लोग पसीने से तर थे। आँखों के आगे अँधेरा छा गया और होशो-हवास गुम हो गये।

हमारे दादाजी कहाँ करते कि संकट के समय राम का नाम लेने से कष्ट कट जाते हैं। मुझे वह बात याद आई और मैंने जोर-जोर से राम-नाम लेना शुरू किया। जीवन में शायद ही कभी इतने सच्चे मन से मैंने प्रभु का नाम लिया होगा। हम सब आँखें मींचे मृत्यु की राह देख रहे थे। कुछ ही क्षण बीते होंगे कि गाड़ी को एक जोर का धक्का लगा। आँखें खोलीं तो देखा कि सड़क किनारे मरम्मत करने के लिये पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़ों का ढेर है और गाड़ी उसी में फँसी हुई है। किसी प्रकार साहस करके हम नीचे उतरे। तब भी शरीर काँप रहा था, सिर चकरा रहा था। देखा – गाड़ी के आगे का हिस्सा थोड़ा-सा टूट गया है, रेडियेटर का सारा पानी निकल गया है। एक मील बाद ही बठोठ था। किसी प्रकार पैदल वहाँ पहुँचे। रात में एक होटल में ठहरे। युवक बहुत ही सहमा हुआ और शर्मिंदा था, परन्तु उसे भला-बुरा कहने से क्या लाभ! वह भी तो आखिर साथ ही में मरनेवाला था? दूसरे दिन कुलियों को भेजकर गाड़ी ठेलकर बठोठ लाये। वहाँ एक कारखाने में टंकी की मरम्मत करायी गयी। इसके लिये दो दिन वहीं रुकना पड़ा। रास्ते में हम लोग आपस में बात करते रहे कि मारने वाले से बचाने वाला बड़ा है –

''जाको रखे साँइयाँ मार सकै नहिं कोय।'' ❑❑❑

सबसे बड़ा भक्त कौन?

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हम सोचते हैं कि जो मन्दिर, मसजिद या गिरजाघर में जाता है, धर्मशास्त्र का पठन करता है, वह ईश्वर का बड़ा भक्त है। पर मात्र इतने से कोई भगवान् का भक्त नहीं हो जाता। जो अपने कर्तव्य के पालन में त्रुटि करता है, जिसके अन्तःकरण में दूसरों का दुःख पीड़ा उत्पन्न नहीं करता, जो स्वार्थी है और अपने लिये जीता है, वह मन्दिर में जाकर कितना भी घण्टा बजाए, मसजिद में जाकर कितना भी नमाज पढ़े, गिरजाघर में जाकर कितना भी घुटना टेके, वह भगवान् का भक्त नहीं बन जाता। जो अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं करता और कर्त्तव्य को बोझ न मान अपने प्रेमास्पद परमेश्वर की सेवा मानता है, वही वास्तव में सबसे बड़ा भक्त है।

कथा आती है कि एक बार नारद जी जब वैकुण्ठ गये, तो उन्होंने देखा कि महाविष्णु चित्र बनाने में मग्न हैं तथा आस-पास शिव, ब्रह्मा इत्यादि अगणित देवता विष्णु की कृपा-कटाक्ष पाने के लिए लालायित खड़े हैं। किन्तु विष्णु हैं कि उन्हें चित्र बनाने से फुरसत नहीं। चित्रलीन विष्णु ने नारद जी को भी नहीं देखा। उनका यह व्यवहार नारद को बड़ा अपमान-जनक प्रतीत हुआ। वे आवेश में विष्णु के समीप गये और पास ही खड़ी लक्ष्मी से उन्होंने पूछा, "आज इतनी तन्मयता के साथ भगवान् किसका चित्र बना रहे हैं?" लक्ष्मी ने अपने स्वाभाविक भृकुटि-चांचल्य के साथ कहा, "अपने सबसे बड़े भक्त का - आपसे भी बड़े भक्त का !" दोहरे अपमानित नारद जी ने पास जाकर देखा, तो आश्चर्य से स्तब्ध रह गये - अचल ध्यानावस्थित विष्णु एक मैले-कुचैले अर्धनग्न मनुष्य का चित्र बना रहे थे। नारद जी का चेहरा क्रोध से तमतमा गया। वे उल्टे-पाँव भूलोक की ओर चल पड़े। कई दिनों के भ्रमण के बाद उन्हें एक अत्यन्त घिनौनी जगह पर पशु-चर्मों से घिरा एक चमार दिखायी दिया, जो गन्दगी और पसीने से लथपथ हो चमड़ों के ढेर को साफ कर रहा था। पहली दृष्टि में ही नारदजी ने पहचान लिया कि विष्णु उसी का चित्र बना रहे थे। दुर्गन्ध के कारण नारद जी उसके पास न जा सके। आड़ में रहकर दूर से ही उसकी दिनचर्या का निरीक्षण करने लगे।

संध्या होने को आयी, किन्तु वह चमार न तो मन्दिर में गया और न आँखें मूँदकर उसने क्षण भर के लिए हरि-स्मरण ही किया। नारद जी के क्रोध की सीमा न रही। अधमाधम चमार को श्रेष्ठ बताकर विष्णु ने उनका कितना घोर अपमान किया है ! आवेश में अन्धे हो विष्णु को श्राप देने के लिए उन्होंने अपनी तेजस्वी बाहु उठायी ही थी कि लक्ष्मी ने प्रकट हो उनका हाथ पकड़ लिया और कहा, "देवर्षे, भक्त की उपासना का उपसंहार तो देख लीजिए। फिर जो करना हो कीजिए।"

उस चमार ने चमड़ों के ढेर को समेटा। सबको एक गठरी में बाँधा। फिर एक मैले कपड़े से सिर से पैर तक शरीर को पोंछा और गठरी के सामने झुककर विनय-विह्वल वाणी में कहने लगा, "प्रभो, दया करना। कल भी मुझे ऐसी ही सुमति देना कि आज की तरह ही पसीना बहाकर तेरी दी हुई इस चाकरी में सारा दिन गुजार दूँ।"

और नारद जी को विश्वास हो गया कि वह चमार विष्णु को क्यों सर्वाधिक प्रिय है। तो ईश्वर के बन्दे होने का यह मतलब नहीं कि हम अपने कर्त्तव्य-कर्मों की उपेक्षा कर संसार से पलायन कर जायँ, याकि आलसी बनकर पड़े रहें और दूसरों की कमाई रोटी तोड़ते रहें। जो ईमानदारी से अपना और अपने लोगों का पेट नहीं पाल सकता, वह ईश्वर की क्या बन्दगी करेगा? जिसने दूसरे के लिए पसीना बहाना नहीं जाना, उसको ईश्वर-भक्ति का क्या तात्पर्य?

बहुधा हमारी ईश्वर-भक्ति एक दिखावा होती है। हमारा धर्मस्थानों में जाना या धर्मग्रन्थों का पाठ करना भी या तो दिखावे के लिए होता है अथवा व्यापार के लिए। यदि हम धार्मिक कहलाने वाले इन कृत्यों के द्वारा भौतिक लाभ ही पाना चाहें, तो हमारा ईश-भजन भी व्यवसाय बन जाता है। कसौटी यह है कि हम ईश्वर को चाहते हैं या ईश्वर से चाहते हैं? सबसे बड़ा भक्त वह है, जो ईश्वर को चाहता है और उसके बनाये जीवों की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहता है। वह तो यही कहता है –

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

– "मुझे न तो राज्य की चाह है, न स्वर्ग की और न मुक्ति की। मैं तो बस शोक-सन्तप्त प्राणियों के दुःख-कष्टों को मिटाना चाहता हूँ।" ❑❑❑

तृष्णा की तिलाञ्जलि

स्वामी सत्यरूपानन्द

दैत्यों के गुरु ऋषि शुक्राचार्य की एक अत्यन्त रूपवती कन्या थी। ऋषि का अपनी पुत्री पर अगाध स्नेह था। वे उसकी सभी इच्छा पूरी करने का प्रयत्न किया करते। उसका नाम था देवयानी।

ऋषि शुक्राचार्य पराक्रमी दैत्यराज बृषपर्वा के आचार्य थे। राजा की सभा में उनका बहुत ऊँचा स्थान था। आचार्य की आज्ञा का पालन करने के लिये सभी तत्पर रहा करते थे।

दैत्यराज वृषपर्वा की भी एक सुन्दरी कन्या थी। उसका नाम था शर्मिष्ठा। वह देवयानी की समवयस्का थी। राजपुत्री एवं आचार्य की पुत्री में पारस्परिक बड़ा स्नेह था। दोनों साथ-साथ आचार्य से विद्या पढ़तीं। साथ-साथ खेलतीं। वन-विहार जल-विहार आदि के लिये साथ-साथ जातीं। शुक्लपक्ष की भाँति दोनों दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगीं।

एक दिन शर्मिष्ठा और देवयानी अपनी अन्य सखियों और दासियों के साथ वन के एक सरोवर में जल-विहार करने गई थीं। जब वे स्नान कर रही थीं तभी हवा के झोकों के कारण तालाब के पार पर रखे उनके वस्त्र आपस में मिल गये। जब वे नहाकर बाहर आईं तो भूल से शर्मिष्ठा ने देवयानी के कपड़े पहन लिये। देवयानी ने जैसे ही यह देखा, क्रोध से उसका शरीर जलने लगा। पुरुष अन्य किसी पुरुष के सौन्दर्य को देखकर जहाँ प्रसन्न होता है, वहाँ नारी अन्य नारी के सौन्दर्य को देखकर ईर्ष्या से जल उठती है।

देवयानी ने तीखे शब्दों में तिरस्कार पूर्व शर्मिष्ठा से कहा – "शर्मिष्ठे ! दैत्यकन्या होकर भी तेरा इतना साहस कि तूने ब्राह्मणकन्या के वस्त्र पहन लिये ! क्या तुझे ज्ञात नहीं कि मैं उस शुक्राचार्य की पुत्री हूँ जिसकी आज्ञा पालन करने के लिये तेरा पिता सदैव तत्पर रहता है?"

इन मर्मभेदी वाक्यों को सुनकर शर्मिष्ठा तिलमिला उठी – राजपुत्री होने का उसका अभिमान जाग उठा। शिष्टाचार की सीमा का उल्लंघन कर उसने कटु शब्दों में देवयानी से कहा – "अरी ब्राह्मण कन्या ! तू यह क्यों भूल रही है कि तेरा पिता एक दरिद्र ब्राह्मण है, जो मेरे पिता के द्वारा दी गई भिक्षा पर ही जीता है तथा रात-दिन मेरे पिता की स्तुति करते जिसकी जिह्वा नहीं थकती।"

देवयानी ने भी प्रतिकार किया। प्रतिकार से दैत्य कन्या के स्वभाव का दैत्य जाग उठा। उसने क्रोध में भरकर देवायानी को पास ही के एक कुएँ में ढकेल दिया और अपने साथ की सभी दासियों आदि को चलने का आदेश देकर स्वयं चल पड़ी।

सौभाग्य से कुआँ सूखा था। देवयानी अचेत हो उस कुएँ में पड़ी रही। थोड़ी ही देर पश्चात् महाराज ययाति घोड़े पर सवार शिकार की खोज में उस ओर आ निकले। थकान तो थी ही। उन्हें प्यास भी लग रही थी। पास ही कुआँ देखकर वे घोड़े से उतर कुएँ की ओर चल पड़े। जाकर ज्योंहि उन्होंने कुएँ के भीतर झाँका, उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने देखा कि कुआँ सुखा है किन्तु उसमें एक सुन्दरी अचेत-सी पड़ी है। राजा ने कुतूहल पूर्व होकर उसे पुकारा। देवयानी की मूर्च्छा दूर हुई। उसने सिर उठाकर देखा। कुएँ के बाहर एक अपरिचित पुरुष को देखकर उसे भी आश्चर्य हुआ। उसने नम्रतापूर्वक उस अपरिचित पुरुष से प्रार्थना की – "आर्य ! मुझे इस कुएँ से बाहर निकालिये। बाहर आकर मैं आपको बताऊँगी कि मैं इस कुएँ में कैसे गिरी।"

राजा ने सहारा देकर देवयानी को कुएँ से बाहर निकाला। देवयानी ने उस समय की प्रथा के अनुसार राजा को अपने वंश-गोत्र आदि का परिचय दिया। राजा ने भी देवयानी को अपना परिचय दिया।

अपना परिचय देकर देवयानी ने राजा से शर्मिष्ठा के साथ हुये अपने कलह की बात कही। राजा ने उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की और उसे उसके पिता शुक्राचार्य के आश्रम तक पहुँचा देने का आग्रह किया। किन्तु देवयानी ने कहा – "महाराज, आप कष्ट न करें। मेरे पिता का आश्रम यहाँ से निकट ही है, मैं स्वयं चली जाऊँगी।"

राजा से विदा लेकर वह चल पड़ी। राजा भी घोड़े पर सवार होकर चल दिये।

देवयानी का हृदय दो विपरीत भावों के तरंगों में हिलोरें ले रहा था। एक ओर तो शर्मिष्ठा से प्रतिशोध लेने की ज्वाला धधक रही थी और दूसरी ओर तरुण राजा ययाति से परिचय की मधुर स्मृति हठात् आह्लाद प्रदान कर रही थी।

आश्रम आकर देवयानी ने, पिता से, शर्मिष्ठा द्वारा किये गये अपने अपमान की सारी घटना कह सुनाई और रोते हुये शुक्रचार्य से पूछा – "पिताजी, क्या यह सत्य है कि आप वृषपर्वा की दी हुई भिक्षा पर जीते हैं? क्या वह सत्य है कि आप भाटों की तरह शर्मिष्ठा के पिता की स्तुति करते हैं?"

पुत्री का विलाप और तीव्र कटु प्रश्न सुनकर ऋषि का शीत हृदय भी व्याकुल हो उठा। पुत्री के अपमान में ऋषि ने अपने स्वाभिमान की अवहेलना देखी। वे उसी समय चल

पड़े दैत्यराज वृषपर्वा की राजसभा में। क्रोधित शुक्राचार्य के सभा में पहुँचते ही वहाँ भय और आतंक का राज्य छा गया। ऋषि ने कर्कश स्वर में राजा को सम्बोधित किया और कहा – "राजन्! तुम्हारी पुत्री शर्मिष्ठा ने देवयानी का अपमान किया है। इतना ही नहीं, उसने मेरी पुत्री को कुएँ में ढकेलकर उसकी हत्या करने का भी प्रयत्न किया था। किन्तु प्रभु की कृपा से देवयानी सुरक्षित है। मैं तुम्हारे इस अत्याचारी राज्य में नहीं रहना चाहता। मैं इसी समय तुम्हारे राज्य की सीमा से बाहर जा रहा हूँ।"

गुरु के क्रोध और अपने अनिष्ट की आशंका से वृषपर्वा काँप उठा। उसने अत्यन्त विनीत भाव से गुरु के चरणों में प्रणाम कर प्रार्थना की – "प्रभु! मैं अपनी पुत्री के दुर्व्यवहार से बहुत लज्जित हूँ। आप उसके लिये जिस दण्ड का विधान करें, मैं उसे वही दण्ड देने को प्रस्तुत हूँ।"

विनीत राजा की प्रार्थना पर ऋषि का क्रोध शांत हो गया। उन्होंने कहा – "इसका एक ही उपाय है। तुम जाकर मेरी पुत्री देवयानी को प्रसन्न करो।"

वृषपर्वा तुरन्त ही देवयानी के पास गया और उससे अपनी पुत्री के दुर्व्यवहारों के लिये क्षमा माँगी एवं प्रसन्न होने की प्रार्थना की।

देवयानी ने कहा – "राजा, मुझे प्रसन्नता तभी हो सकती है जब कि शर्मिष्ठा स्वयं एक हजार दासियों के साथ मेरा दासत्व स्वीकार कर मेरी सेवा करे और मैं जहाँ भी जाऊँ, वह मेरे साथ जाये।"

वृषपर्वा ने गुरुपुत्री की शर्त स्वीकार कर उसे प्रसन्न किया। उसने अपनी पुत्री शर्मिष्ठा को एक हजार दासियों के साथ देवयानी का दासत्व स्वीकार करने का आदेश दिया। शर्मिष्ठा ने भी पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर अपनी भूल स्वीकार करते हुये देवयानी का दासत्व ग्रहण कर लिया।

दिन बीतते गये। देवयानी की प्रतिशोध-भावना भी शेष हो गई। अब शर्मिष्ठा दासी के साथ पुन: उसकी सखी भी हो गई।

एक दिन देवयानी शर्मिष्ठा और अन्य दासियों के साथ वन-विहार करने गई थी। सभी तरुणियाँ वन में आनन्दपूर्वक खेल रही थीं। देवयानी और शर्मिष्ठा एक सघन वृक्ष की छाया में बैठकर वार्तालाप कर रही थीं। उसी समय उनके कानों में घोड़े की टापें सुनाई पड़ी। थोड़ी ही देर बाद में दोनों ने देखा – घोड़े पर सवार एक अत्यन्त आकर्षक पुरुष उसी ओर आ रहा है। वेशभूषा से वह कोई क्षत्रिय राजा प्रतीत हो रहा था। युवक के पास आते ही देवयानी ने उसे पहचान लिया। चलचित्रों की भाँति भूतकाल की सभी घटनायें देवयानी के मानसपटल पर उभर उठीं। उसके अन्त:करण से एक मधुर ध्वनि – 'अरे! वे तो महाराज ययाति हैं। मेरे हृदयेश्वर।" और लज्जा से उसके कपोल रक्तिम हो उठे।

शर्मिष्ठा ने भी ऐसा सुन्दर और आकर्षक युवक इसके पूर्व कभी नहीं देखा था। उसका नारी हृदय भी राजा के भव्य व्यक्तित्व की ओर आकृष्ट हुये बिना रह न सका। क्षण भर के लिये वह भूल गई कि वह अब एक दासी है, राज-पुत्री नहीं। अब उसे यह अधिकार नहीं कि वह विवाह करके देवयानी को छोड़कर अपने पति के घर जाय। तभी उसकी तन्द्रा टूटी। उसके ही अन्त:करण से यह करुण स्वर आया – शर्मिष्ठा! अब तू दासी है, राज-पुत्री नहीं! तुझे विवाह करने का अधिकार नहीं हैं। तू अपनी स्वामिनी देवयानी के साथ, जहाँ भी वह जाये, जाने को वचनबद्ध है। सुखद कल्पना का शीलत हिम, कठोर वास्तविकता के तीव्र दाह में विगलित हो गया। शर्मिष्ठा की आँखें सजल हो उठीं।

तभी राजा ययाति के मधुर किन्तु गम्भीर स्वर ने इन दोनों के भावस्वप्न को भंग कर दिया। राजा ने पूछा – "देवियो, आप लोग कौन हैं? कृपया अपने कुल-गोत्र का परिचय दीजिये।"

देवयानी ने आह्लादपूर्ण स्वर में अपना परिचय दिया। शर्मिष्ठा का परिचय देते हुये उसने कहा – "यह है शर्मिष्ठा, मेरी दासी-सखी। मैं जहाँ भी जाऊँगी यह भी मेरे साथ जाने को वचनबद्ध है।" शर्मिष्ठा भावशून्य शिलाखण्ड की भाँति खड़ी थी।

देवयानी ने राजा को उस घटना का स्मरण दिलाया जबकि उन्होंने उसे हाथ का सहारा देकर कुएँ से बाहर निकाला था। साथ ही लज्जित स्वर में उसने राजा के प्रति अपने समर्पण की भी बात कह दी।

राजा ने कहा – "देवि! तुम ऋषिप्रवर शुक्राचार्य की कन्या हो; उनकी आज्ञा के बिना मैं तुम्हें कैसे ग्रहण कर सकता हूँ?"

देवयानी ने निवदेन किया – "महाराज! आप मेरे पिता के पास चलिये। मैं स्वयं उनसे अपना मंतव्य व्यक्त करूँगी।"

राजा ने स्वीकृति दे दी।

शुक्राचार्य अपनी पर्णकुटी के पास ही एक सघन वृक्ष की छाया में बैठे प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य को निरख रहे थे। प्रकृति का सौन्दर्य देखते-देखते उनका मन उस सौन्दर्य के रचयिता सुन्दर प्रभु के ध्यान में लीन हो रहा था। उसी समय महाराज ययाति ने अत्यन्त विनयपूर्वक ऋषि के चरणों में प्रणाम किया। ऋषि का ध्यान टूटा। अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में उन्होंने राजा को आशीर्वाद दिया। सकुचाती-सी देवयानी ने भी आकर पिता को प्रणाम किया। पुत्री को प्रणाम करते ही ऋषि ने प्रश्नसूचक दृष्टि से उसकी ओर देखा। संकोच और

लज्जा में गड़ी-सी देवयानी ने कहा, ''तात ! मैंने महाराज ययाति को पतिरूप में वरण कर लिया है। आप हमें विवाह की अनुमति दें।''

वृद्ध ऋषि की आँखों में स्नेहाश्रु छलछला उठे। देवयानी के सिर पर स्नेहपूर्वक हाथ फेरते हुये उन्होंने राजा के साथ उसके विवाह की अनुमति दे दी।''

शर्मिष्ठा शिलाखंड की भाँति निश्चल स्थिर खड़ी यह सब दृश्य देख रही थी। हठात् ऋषि शुक्राचार्य की दृष्टि उस पर पड़ी। उन्हें स्मरण आया कि शर्मिष्ठा भी देवयानी के साथ उसकी ससुराल जायेगी। उनके अन्तःकरण में भविष्य की एक आशंका उठी। मन-ही-मन उन्होंने कुछ निश्चय किया। वे राजा की ओर मुड़े और गम्भीर स्वर में राजा से कहा – ''राजन्। शर्मिष्ठा देवयानी की दासी है। वह भी उसके साथ तुम्हारे राजमहल में जायेगी। वचन दो कि तुम उसके कौमार्य की सतत रक्षा करोगे और कभी भी उसकी ओर आकृष्ट नहीं होगे।''

राजा ने स्वीकृति में प्रणाम किया। शर्मिष्ठा के अन्तःकरण में पत्थर की एक रेखा और खिंच गई।

उस पावन वनस्थली में देवयानी और ययाति का विवाह सानन्द सम्पन्न हुआ। देवयानी को लेकर महाराज ययाति का रथ चल पड़ा। निर्मोही ऋषि की आँखों से भी पुत्री का स्नेह अश्रुरूप में बह चला। देवयानी के हृदय में भी प्रणय का मधुर आनन्द तो था किन्तु नेत्रों से पितृवियोग का दुख मानो विगलित होकर बह रहा था। सभी सखी-सहेलियाँ, प्रेमी और आत्मीय जन अपनी प्रिय देवयानी को विदा करने आये। शर्मिष्ठा जड़वत् अपनी स्वामिनी महारानी देवयानी के साथ चल पड़ी।

राजा देवयानी के साथ राजाधानी को लौटे। नगर में कई दिनों तक उत्सव का आयोजन होता रहा। सारा राजमहल मानो आनन्द के सागर में हिलोरें ले रहा था। राजा देवयानी को पाकर सब कुछ भूल चुके थे। कब सुबह हुई, कब संध्या आई इसका भी उन्हें भान न होता था। स्वस्थ तरुण शरीर, अपार धन और वायु की तरह स्वतन्त्रता इन में से एक भी मनुष्य को इन्द्रियलोलुप बनाकर उसके पतन का कारण होता है। फिर ययाति को तो सभी सुविधायें एक साथ प्राप्त थीं। राजा की भोगलिप्सा ग्रीष्म ऋतु में सूखे बाँस के जंगल में लगी आग के समान निरन्तर बढ़ती ही गई।

राजा ने शर्मिष्ठा के रहने आदि का भी उत्तम प्रबन्ध कर दिया था। वह राजमहल से दूर एक सुन्दर वाटिका में रहा करती थी। उसकी सुख-सुविधाओं की समुचित व्यवस्था कर दी गई थी। राजा यदा-कदा देवयानी के साथ इस वाटिका में भी आ जाया करते। तभी देवयानी शर्मिष्ठा से कुछ बातें कर लिया करती। किन्तु अब उसे शर्मिष्ठा से अधिक मिलने का अवसर न मिल पाता। शर्मिष्ठा को भी उसने छूट दे दी थी। अब शर्मिष्ठा को देवयानी की सेवा-टहल से मुक्ति मिल गई थी। वह दासी अवश्य थी, किन्तु अब उसे दासी का कार्य नहीं करना पड़ता था।

जब कभी देवयानी राजा के साथ शर्मिष्ठा की वाटिका में आती, तो शर्मिष्ठा का हृदय ईर्ष्या से जल उठता। वह मन-ही-मन कुछ सोचकर चुप रह जाती। भीतर से उसका नारी हृदय उसे शान्त न रहने देता। ईर्ष्या और प्रतिहिंसा उसे व्याकुल कर देती। इसी व्याकुलता में एक दिन मन-ही-मन उसने कुछ कठोर निश्चय कर लिया। उसकी भौंहे चढ़ गई और भविष्य के षड्यंत्रों को सफल करने के लिये वह उठ खड़ी हुई।

एक दिन सायंकाल शर्मिष्ठा अकेले ही उपवन में टहल रही थी। वसंत के वृक्ष की भाँति उसने सोलहो श्रृंगार कर रखा था। तभी अचानक राजा ययाति भी उस ओर अकेले ही निकल पड़े। साँझ ढल रही थी। सारा वातावरण रक्तिम हो उठा था। शर्मिष्ठा का सौन्दर्य ढलती सूरज की किरणों में और भी निखर उठा। दूर से राजा की दृष्टि उस पर पड़ी। हठात् उनके पग रुक गये। अपलक दृष्टि से वे शर्मिष्ठा की ओर देखते रह गये। उसने भी राजा की ओर देखा। पहली ही दृष्टि में उसे अपनी विजय का आभास मिल गया। अपना मनोगत निश्चय उसे साकार होता-सा प्रतीत हुआ। पुरुष की कठोरता में सन्निहित दुर्बलता को नारी खूब जानती है। अवसर आते ही वह पुरुष के इस मर्मस्थल पर प्रहार कर उसे अपने अधीन कर लेती है। पुरुष अपनी शक्ति के मद में दुर्बलता को भूल जाता है। तभी तो विश्वविजयी सम्राटों और महापराक्रमी योद्धाओं को भी इतिहास ने नारी का दासत्व करते देखा है।

शर्मिष्ठा अलसाई-सी आगे बढ़ी। उसने नम्रतापूर्वक राजा का अभिवादन किया। राजा अपलक नयनों से उसे निहारते रहे। तभी शर्मिष्ठा ने राजा से वाटिका के भीतर चलने का आग्रह किया। राजा की तन्द्रा टूटी। वर्षा की अमावस रात्रि में बिजली की भाँति क्षण भर के लिये राजा की बुद्धि में विवेक की ज्योति कौंध उठी। उन्होंने सकुचाते हुये कहा, ''शर्मिष्ठा ! यहाँ एकान्त में संध्या समय अकेली कैसे?''

शर्मिष्ठा ने उत्तर दिया ''महाराज ! आपकी प्रतीक्षा में ! महारानी देवयानी की दासी आपकी भी तो दासी है। दासी पर आपका पूर्ण अधिकार है।''

राजा के मन में भीषण झंझावात उठ पड़ा। उनका विवेक डगमगाने लगा। ज्ञान मूर्छित होने लगा। वासना के अनन्त द्वार हैं। न जाने कब कहाँ किस द्वार से प्रविष्ट होकर वह

व्यक्ति को पथ भ्रष्ट कर दे। बुद्धिवादियों के पास वह तर्क का सहारा लेकर 'उदार नैतिकता' के रूप में आती है। धर्मभीरुओं के पास वह धार्मिक रूढ़ि और धार्मिक कर्तव्य के रूप में आती है। राजा के मन ने भी तर्क दिया – शर्मिष्ठा राजपुत्री है; फिर वह मेरी पत्नी की सखी और दासी भी तो है; पत्नी की दासी पर भी मेरा पत्नी की तरह ही अधिकार है। क्षण भर के लिये विवेक भी जागा। राजा के अन्तर से एक क्षीण ध्वनि आई – "शर्मिष्ठा पराई कन्या है ! तुमने उसके कौमार्य की रक्षा का वचन दिया है। वचन भंग करने पर ऋषि के क्रोध में तुम्हारा सर्वस्व भस्म हो जायेगा।"

तभी शर्मिष्ठा ने राजा का हाथ पकड़कर एकान्त उद्यान में चलने का आग्रह किया। वासना के प्रबल प्रहार से ज्ञान का कवच टूट गया। विवेक मर गया। पुरुष की कठोरता नारी की कमनीयता से पराजित हो गई। राजा ययाति का शुक्राचार्य को दिया हुआ वचन और शर्मिष्ठा का कौमार्य साथ-साथ भंग हो गये।

भोग का विषवृक्ष विश्वासघात की धरती पर ही पनपता है। जब पुरुष की वासना बलवती होती है, तब उसकी धूर्तता भी सक्रिय हो उठती है। दाम्पत्य जीवन के पारस्परिक विश्वास और आस्था की जड़ों में छल छद्म का मट्ठा पड़ जाता है। ययाति की भी यही स्थिति हुई।

संयम का बाँध टूटते ही वासना की धारा सहस्त्र मुखों से प्रवाहित होने लगती है। फिर उसे रोकना असम्भव-सा हो जाता है। शर्मिष्ठा के सम्पर्क ने ययाति की वासनाग्नि में घृताहुति दे दी। राजा की तृष्णा सागरगामिनी नदी की भाँति बढ़ती ही गई। दासी शर्मिष्ठा राजा ययाति की स्वामिनी बन चुकी थी।

अबोध देवयानी पति के कपटपूर्ण प्रेम में अपने आपको भूलकर पतिसेवा में रत थी। उसे फूल जैसे सुकुमार दो पुत्र प्राप्त हो चुके थे।

एक दिन देवयानी घूमते-घूमते अपने पति के साथ उस वाटिका में पहुँची, जहाँ शर्मिष्ठा रहती थी। वहाँ उसने अपने ही बच्चों की भाँति तीन और सुकुमार बच्चों को देखा। आश्चर्य और कौतूहल से उन बच्चों की ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखते हुये सरलतापूर्वक पूछा, 'महाराज ! ये तीनों मनोहर बालक कौन हैं?"

राजा का मुख स्याह हो गया। आँखें भूमि में गड़ गईं। अपराध उनके मुख से टपकने लगा। इस समय पास की झाड़ी से निकलकर दम्भ और व्यंगपूर्ण स्वर में शर्मिष्ठा ने कहा – 'महारानी ! महाराज ययाति की कृपा से ही मुझे तीनों पुत्र प्राप्त हुये हैं। आपके कुमारों की तरह ये भी राजपुत्र हैं।"

देवयानी पर मानो वज्रपात हो गया। क्षण भर के लिये वह मूर्च्छित-सी हो गई। पति के विश्वासघात और शर्मिष्ठा के प्रतिशोध ने देवयानी के जीवनकानन में आग लगा दी।

दुख और क्रोध की ज्वाला में जलती देवयानी पितृगृह की ओर चल पड़ी।

देवयानी के विवाह के पश्चात शुक्राचार्य चिंतन-मनन में शान्तिपूर्वक अपना समय बिता रहे थे। सांसारिक दायित्वों और चिन्ताओं से वे मुक्त हो गये थे।

तभी एक दिन अचानक उनकी शांति भंग हो गई। घायल हिरणी-सी विकल देवयानी आश्रम में पहुँची। पिता से लिपट कर खूब जी भरकर रोई। ऋषि ने भी उसके हृदय को शांत होने दिया। मन हलका होने पर देवयानी ने पिता से पति द्वारा किये गये विश्वासघात की बात कही। तप:पूत शान्त ऋषिहृदय भी कुछ क्षणों के लिये अशान्त हो उठा। ऋषि ने निश्चय किया कि वे ययाति को अवश्य उसके विश्वासघात का दण्ड देंगे।

मनुष्य के मन में भावी विपत्ति की आंशका घुसते ही वर्तमान की सुख-सुविधायें भी उसे दु:ख और दुर्दिन प्रतीत होने लगती हैं। देवयानी के अपने पिता के घर चले जाने के पश्चात राजा की आँखें खुलीं। ऋषि के क्रोध और उसके परिणाम स्वरूप होनेवाली दुर्दशा की आंशका से उनका हृदय व्याकुल हो उठा। सारे राज-भोग उन्हें विषवत् लगने लगे। फूलों की कोमल शैया काँटों की तरह गड़ने लगी। राजा की आँखों की नींद न जाने कहाँ चली गई। अन्त में राजा ने निश्चय किया कि इस दाह से त्राण पाने का एक उपाय है – और वह है ऋषि शुक्राचार्य के चरणों में मस्तक रखकर क्षमा याचना।

राजा ऋषि से क्षमा माँगने चल पड़े। भय और भावी आशंका से उनके प्राण काँप रहे थे। अभी राजा दूर ही थे कि उन पर ऋषि की दृष्टि पड़ गई। पुत्री की व्यथा से व्यथित ऋषि का हृदय क्रोध से भर गया। भयभीत राजा ने आकर उनके चरणों में प्रणाम किया। आशीर्वाद देने की अभ्यस्त जिह्वा से आज आशीर्वचन न निकल सके। ऋषि का क्रोध प्रतिशोध में बदल गया। उनके मुख से शाप के कटु शब्द निकले – "मूर्ख ! जिस तारुण्य के उन्माद में तूने देवयानी के साथ विश्वासघात किया है, ले मैं उसे ही नष्ट किये देता हूँ। जा, तू तुरन्त वृद्ध हो जा।"

सत्यनिष्ठ ऋषि के शब्द कभी असफल नहीं होते। राजा का तारुण्य क्षण मात्र में लुप्त हो गया।

राजा को ऐसे कठोर और असहनीय दण्ड की आशा न थी। शाप से उन पर मानों वज्रपात ही हो गया। उन्होंने अत्यन्त व्याकुल होकर ऋषि से दया की भीख माँगी और कहा, "प्रभु, दया कीजिये ! मुझसे वृद्धावस्था का यह दुख

सहा नहीं जायेगा। अभी मेरे मन से भोग की इच्छा गई नहीं है। अभी मैं तृप्त नहीं हुआ हूँ। वृद्धावस्था के कष्टों से मुझे उतना दुख नहीं हो रहा है, जितना कि भोग न कर सकने की कल्पना से हो रहा है।''

देवयानी को भी पति के लिये इतने कठोर दण्ड-विधान की धारणा न थी। उसका अन्तर्मन भी इतने कठोर दण्ड के लिये प्रस्तुत न था। पति को मिले दण्ड में वह भी तो सहभागिनी थी। पति के दण्ड की पीड़ा का उसे भी तो अनुभव करना पड़ता। जल में खिंची रेखा के समान थोड़ी ही देर में ऋषि का क्रोध मिट गया। उनके मन में करुणा जागी। उन्होंने देवयानी की ओर आँखें उठाकर देखा। वृद्ध ऋषि को तरुणी देवयानी के मनोभाव समझने में देर न लगी।

पुत्री का प्रेम और राजा की विनय के कारण ऋषि ने उदारतापूर्वक श्रापमोचन की व्यवस्था दे दी। उन्होंने कहा, ''राजन्! मेरे शब्द व्यर्थ नहीं जा सकते। तुम्हारी वृद्धावस्था का दुख किसी न किसी को तो भोगना ही पड़ेगा। एक उपाय अवश्य है। यदि कोई व्यक्ति स्वेच्छा से तुम्हें अपना यौवन दे दे और तुम्हारा बुढ़ापा ले ले, तो तुम मेरे शाप से मुक्त हो सकते हो।''

ऋषि का आशीर्वाद ले राजा वहाँ से चल पड़े। देवयानी का क्रोध भी शान्त हो चुका था। उसने भी पति का अनुगमन किया। राजाधानी में आकर राजा ने देवयानी और शर्मिष्ठा से प्राप्त अपने पाँचों पुत्रों को बुलाया और उनसे अपना यौवन देकर उसका (राजा) बुढ़ापा ले लेने का बात कही। चार पुत्रों ने बुढ़ापा लेने से नाही कर दी। किन्तु राजा के छोटे पुत्र पुरु का हृदय ज्ञान के प्रकाश से अलोकित था। उसे यह अनुभूति हो गई थी कि युवावस्था के सुख-भोग क्षणिक और अन्त में दुखदाई हैं। उसने देख लिया था कि युवावस्था में उद्दाम इन्द्रियाँ बलपूर्वक मनुष्य को अशुभ कर्मों में प्रवृत्त कर देती हैं। पुरु ने सोचा कि बिना इन्द्रियलोलुप और भोगी हुये ही यदि मुझे बुढ़ापा मिल जाये, तो मैं बहुत से दुष्कर्मों से अनायास ही बच जाऊँगा।

उसने सहर्ष पिता को अपना यौवन देकर उनका बुढ़ापा ले लिया।

पुत्र से यौवन प्राप्त कर राजा ययाति पुन: एक बार भोग की मृग-मरीचिका में खो गये। महाभारत के अनुसार राजा ने पुन: एक सहस्त्र वर्षों तक सभी प्रकार के इन्द्रिय-सुखों का यथेष्ट भोग किया। किन्तु हाय री भोग लिप्सा! तू अभी भी शान्त न हुई!

इन्द्रिय-लोलुप होकर भोगतृप्ति में फँस जाने पर भोगी के वर्ष और महीने, घटी और पल की भाँति शीघ्र ही बीतते प्रतीत होते हैं। ययाति के लम्बे सहस्त्र वर्ष भी भोग की लिप्सा में 'शीघ्र' ही बीत गये। किन्तु राजा की भोगलिप्सा शान्त नहीं हुई। वह तो सूखी घास में लगी हुई आग के सामान निरन्तर बढ़ती ही गई।

अतिभोग भी कभी-कभी वैराग्य का जन्मदाता बन जाता है। ययाति के जीवन में भी यही हुआ। अति भोग के कारण राजा भोग के स्वभाव से पूर्णत: परिचित हो गये। उन्होंने भोग की सारहीनता का अनुभव कर लिया। यह देख लिया कि भोगों की तृप्ति असम्भव है। भोग की निस्सारता के साथ-साथ त्याग की महत्ता की अनुभूति भी राजा को हो चुकी थी। राजा भोगों से विरत हो गये।

उन्होंने अपने प्रिय पुत्र पुरु को बुलाया और जिस उत्साह से एक सहस्त्र वर्ष पूर्व उसका यौवन लिया था, उससे द्विगुणित उत्साहपूर्वक उसका वह यौवन उसे लौटा कर अपना बुढ़ापा वापस ले लिया। पुत्र का यौवन लौटाते समय ययाति ने उसे अपना जो अनुभव बताया है, वह आज भी मानव-मात्र के लिये सूर्य की भाँति प्रकाशदाता और पथ-प्रदर्शक है। राजा कहते हैं – ''बेटा! मैंने तुम्हारा यौवन लेकर इच्छानुसार अपने प्रिय भोगों का भोग किया किन्तु उससे मुझे तृप्ति नहीं हुई। अब मुझे निश्चय हो गया है कि कामनाओं का उपशम उनके भोग से नहीं होता, प्रत्युत जैसे घी डालने पर अग्नि और प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार कामनायें भी उपभोग से क्षीण होने की बजाय तीव्र और प्रबल हो जाती हैं। पृथ्वी का सारा अनाज, समस्त सोना, सारे हीरे-मोती आदि बहु मूल्यवान पदार्थ, सम्पूर्ण पशुधन और सारी स्त्रियाँ एक व्यक्ति की कामना पूर्ण करने के लिये भी पर्याप्त नहीं है। इसलिये तृष्णा का त्याग करना चाहिये। यह तृष्णा एक प्राणान्तक रोग है। मनुष्य भले ही जीर्ण हो जाय, पर वह जीर्ण नहीं होती। दुर्गतियों के लिये इसका त्याग बड़ा कठिन है। पर यदि जीवन में सुख चाहिये, तो इस तृष्णा का त्याग करना ही पड़ेगा।''

❑❑❑

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१३७. गुरु किरपा जेहि नर पे होय

एक बार नरसिंह सरस्वती महाराज के पास नरहरि नामक एक व्यक्ति आया और उसने बताया कि उसे कुष्ट रोग होने के कारण गाँववालों ने उससे सारे सम्बन्ध तोड़ लिये हैं। रोग तथा गाँववालों के सामाजिक बहिष्कार के कारण उसने आत्महत्या करने का निश्चय किया है। मृत्यु से पहले उनका दर्शन लेने के लिये वह उनके पास आया था। महाराज ने उससे कहा कि वह आत्महत्या की बात मन से निकाल दे। मनुष्य की जिन्दगी इतनी सस्ती नहीं कि उसे स्वयं ही नष्ट कर दिया जाय। फिर उन्होंने एक शिष्य से सामने के गूलर के सूखे पेड़ की छोटी टहनी मँगवाकर उसे देते हुये कहा कि वह उसे घर जाकर एक कोने में गाड़कर प्रतिदिन सुबह-शाम उसमें पानी डाला करे। महाराज के बताये अनुसार वह उस सूखी टहनी पर प्रतिदिन जल-सिंचन करने लगा, पर उसमें अंकुर फूट नहीं रहे थे। लोग यह देख दूर से ही उसकी हँसी उड़ाते कि सूखी लकड़ी में भी कहीं पत्ते आते हैं !

महाराज के शिष्यों को पता चला कि वह व्यक्ति लोगों के उपहास तथा व्यंग्य से और हताश होता जा रहा है, तो उन्होंने महाराज से शिकायत की। महाराज स्वयं उसके घर गये और उन्होंने अपने कमण्डलु में से उस लकड़ी पर जल-सिंचन किया। लोग यह देख चकित रह गये कि जैसे पारस के स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है, उसी प्रकार दूसरे ही दिन सूखी लकड़ी में न केवल अंकुर निकल आये, बल्कि नरहरि के शरीर के कुष्ट के दाग भी अदृश्य हो गये थे। यह चमत्कार देख उसकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। वह महाराज के पास आया और उन्हें दण्डवत किया। महाराज ने जैसे ही उसे स्पर्श किया, नरहरि के मुख से पद्यवाणी स्फुरित हुई, जो 'इन्दु-कोटि-अष्टक' नाम से प्रसिद्ध है। महाराज ने उसे आशीर्वाद देकर, 'विद्या-सरस्वती' मंत्र से दीक्षा दी। वही बाद में जोगेश्वर नामक उनका प्रिय शिष्य बना।

१३८. सुख का सहज उपाय है

एक बार स्वामी विवेकानन्दजी के पास एक युवक आया और उसने कहा कि उसने अनेक तीर्थों का भ्रमण किया, बहुत सत्संग किया, किन्तु उसे सुख-शान्ति नहीं मिली थी। उसका मन सदैव अशान्त रहता था। "तुमने और क्या-क्या किया?" – पूछने पर पता चला कि उसने पं. भवानी शंकर के प्रवचनों से प्रभावित होकर हनुमानजी की पूजा-उपासना की, लेकिन कोई लाभ नहीं हुआ। एक महात्मा के बताने पर वह सुबह-शाम एकान्त में ध्यान लगाकर बैठता है, किन्तु मन अशान्त ही रहता है।" तब स्वामीजी ने उससे कहा – "यदि तुम सच्ची सुख-शान्ति चाहते हो, तो अपने अन्त:करण के द्वार खुले रखो। अपने आसपास तुम्हें जो भी दीन-दुखी दिखाई दें, उनकी तन-मन से सेवा करो। जो भी अज्ञानी और अपढ़ हों, उन्हें शिक्षित करो, उन्हें स्वावलम्बी बनाओ। हमारा जीवन हमारी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं, अपितु समाज की धरोहर है। इसलिये उसका उपयोग दूसरों के लिये करो। सुख उसी को मिलता है, जो दूसरों में सुख बाँटता है। लोगों में स्नेह तथा सद्भाव बाँटो, तुम्हें निश्चय ही सुख मिलेगा और जीवन की सार्थकता भी समझ में आ जायेगी।"

१३९. जे सहि दुख पर छिद्र दुरावा

उज्जैन के राजा विक्रमादित्य रात को वेश बदलकर प्रजा का दु:ख-दर्द जानने के लिये शहर का चक्कर लगा रहे थे कि उन्होंने दूर से गाय के चिल्लाने की आवाज सुनाई दी। उस ओर आगे बढ़ने पर उन्हें एक गाय दलदल में फँसी दिखाई दी। उन्होंने दलदल से गाय को निकालने की काफी कोशिश की, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। इतने में उन्हें सामने से एक सिंह आता दिखाई दिया। सिंह को देखकर गाय अब जोर-जोर से चिल्लाने लगी।

ऊपर पेड़ पर एक तोता बैठा हुआ यह दृश्य देख रहा था। उसने राजा से कहा – "आप चाहे जितनी भी कोशिश क्यों न करें, गाय बाहर नहीं निकल सकेगी। यदि आप शीघ्र ही इस पेड़ पर नहीं चढ़ेंगे, तो यह सिंह गाय के साथ-साथ आपको भी खा जायेगा।" उन्होंने तोते को जवाब दिया – "अपनी सलाह अपने पास रखो। भले ही कोई निरीह गाय क्यों न हो, अपने प्रजाजन की रक्षा करना राजा का परम धर्म है। मुझे मेरे प्राणों की परवाह नहीं। अपने जीते-जी मैं इस गाय को सिंह का ग्रास बनने नहीं दूँगा।"

यह कहकर वे अपने म्यान से तलवार निकालकर सिंह का सामना करने को आगे आये। इतने में जोरों की आँधी आई और उनकी आँखें बन्द हो गई। थोड़ी देर बाद जब उन्होंने आँखें खोलीं, तो उन्हें वहाँ न दलदल, न गाय, न सिंह और न तोता ही दिखाई दिया; बल्कि उन्होंने सामने प्रसन्न-मुद्रा में देवराज इन्द्र को देखा। इन्द्र ने राजा विक्रम से कहा – "मैं तुम्हारी परीक्षा ले रहा था, जिसमें तुम उत्तीर्ण हुए। तुम निश्चय ही स्वर्ग के अधिकारी हो।" ❑❑❑

खेतड़ी निवास – ग्यारह दिन

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उसी समय उनका खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। तदुपरान्त वे महाराजा तथा कुछ अन्य लोगों की सहायता से अमेरिका गये। वहाँ से उन्होंने महाराजा को अनेक पत्र लिखे। कई वर्षों तक धर्म-प्रचार करने के बाद वे यूरोप होते हुए भारत लौटे। फिर भारत में प्रचार तथा सेवा-कार्य के दौरान उनका राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश के साथ कैसा सम्पर्क रहा, प्रस्तुत है उसी का सविस्तार विवरण। – सं.)

स्वामीजी का खेतड़ी प्रवेश

स्वामीजी के शिष्य तथा सहयात्री सदानन्दजी द्वारा लिखित तथा 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका के १ जनवरी १८९८ के अंक में प्रकाशित स्वामीजी के आगमन का विवरण निम्नलिखित है – "रास्ते की आवश्यकताओं तथा यात्रा को आरामदायक बनाने के लिए हर प्रकार की ठीक-ठाक व्यवस्था करके खेतड़ी-नरेश ने वह सब कुछ जयपुर भेज दिया था और उन्होंने स्वयं घोड़ेगाड़ी[१] पर बारह मील अग्रसर होकर स्वामीजी का स्वागत किया। पूरा खेतड़ी नगर उत्साह तथा आनन्द से परिपूर्ण था। इंग्लैंड तथा यूरोप का सफलतापूर्वक भ्रमण कर महामान्य राजा के स्वदेश लौट आने तथा विधि के विधान से उसी समय वहाँ स्वामीजी का भी आगमन होने से जनसाधारण के हृदय का उत्साह दुगना हो गया था और नागरिकों ने एक विराट् भोज, भव्य दीपमालिका तथा आतिशबाजी का आयोजन किया था। ... एक पहाड़ी की चोटी पर स्थित एक मनोहर बँगले ('सुखमहल') में स्वामीजी तथा उनके संगियों के ठहरने की व्यवस्था हुई थी।"[२]

प्रथम दिवस, १२ दिसम्बर १८९७ (पन्ना तालाब पर स्वागत-समारोह)

राज्य के वाकयात रजिस्टर में लिपिबद्ध इस दिन की वहाँ की गतिविधियों का विवरण हिन्दी भाषा में इस प्रकार है – "१२ दिसम्बर, १८९७ (रविवार)। इंग्लैंड, जर्मनी, फ्रांस तथा इटली की यात्रा के बाद महामना महाराज की सवारी प्रसन्नतापूर्वक ६ नवम्बर को खेतड़ी में दाखिल हुई है; इस कारण राज्य के जागीरदारों तथा उच्च पदस्थ कर्मचारियों ने निश्चित किया था कि आज के दिन उनकी स्वागत-सभा होगी और उनके सम्मान में एक भोज का आयोजन किया जायेगा। इस अवसर पर स्वामी विवेकानन्दजी के भी उपस्थित रहने तथा उस दिन आने की उनकी सम्मति की बात जानकर ही यह दिन निश्चित किया गया था। आज वही दिन है।

"राजाजी अपने दैनन्दिन कृत्य पूरा करने के बाद साढ़े नौ बजे बग्घी में सवार होकर (पन्ना) तालाब के किनारे गए। उन्होंने उस स्थान का निरीक्षण किया, जहाँ उत्सव का आयोजन हो रहा था।

"दस बजे वे मुन्शी जगमोहन लाल के साथ स्वामीजी का स्वागत करने के लिए (१२ मील दूर स्थित) **बबाई** नामक स्थान में गए, स्वामीजी वहाँ पहले ही पहुँच चुके थे। महाराज ने स्वामीजी के चरणों में एक स्वर्णमोहर तथा पाँच चाँदी के रुपये प्रणामी के रूप में अर्पित किए और काफी समय तक वार्तालाप करते रहे।

"(शाम में) चार बजे वे बग्घी[१] में स्वामीजी को अपने दाहिनी तरफ और मुंशीजी को सामने की सीट पर बैठाकर (खेतड़ी के लिये) रवाना हुए। (नगर के बाहरी अंचल में स्थित) **झौझू** पहुँचने पर स्वामीजी की आरती हुई। ठाकुर रामबक्सजी, मुन्शी लक्ष्मी नारायणजी आदि जो दस पाँच लोग अश्वारोहियों के साथ वहाँ मौजूद थे, वे भी साथ हो लिए। इस प्रकार **शोभायात्रा (रघुनाथजी के) मन्दिर तक पहुँची।** मार्ग में हर विशेष स्थान पर स्वामीजी की आरती उतारी गयी। **तालाब की ओर के मन्दिर के महल में स्वामीजी को आसन पर बैठाया गया।** मन्दिर के अधिकारीजी (मुख्य पुरोहित) ने आकर आरती उतारी और चाँदी के चार रुपये भेंट किए। मुन्शी लक्ष्मीनारायणजी ने दो रुपये, जोरजी गणेश दरोगा ने एक रुपया और बाबू जीवनदास (एक बंगाली डॉक्टर) ने एक रुपया भेंट किया। ... लोग सभास्थल में एकत्र हुए। (शाम को) साढ़े सात बजे राजा साहब स्वामी विवेकानन्दजी महाराज के साथ रवाना हुए – स्वामीजी अपने संगियों के साथ आगे आगे और उनके पीछे राजासाहब चले। मन्दिर के महल से सभा-मण्डप तक लाल दरी बिछायी गयी थी। मंच पर पहुँचकर राजासाहब सफेद गद्दी पर बैठे और स्वामीजी अपने संगियों के साथ उनकी दाहिनी ओर के

१. "खेतड़ी पहुँचने में अभी १२ मील बाकी थे, तभी राजा ने आगे आकर स्वामीजी की चरण-वन्दना की और अपनी छह घोड़ों की बग्घी में स्वामीजी को लेकर खेतड़ी पहुँचे। (भारते विवेकानन्द, पृ. ४२१)

२. Vivekananda in Indian Newspapers, Ed. 1969, P. 525-26

गलीचे पर विराजे। सभी समवेत लोगों ने अपने आसन ग्रहण किए और स्वामीजी के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए उन्हें प्रणामी भेंट की।'' (प्राप्त विवरण के अनुसार इस प्रणामी की कुल राशि १३२ रुपये थी।)

''इस प्रणामी अर्पण के समय कलाकारों का संगीत चल रहा था। इसके पश्चात् मुन्शी जगमोहन लाल ने खड़े होकर सब लोगों की ओर से (स्वामीजी का अभिनन्दन करते हुए) एक भाषण का पाठ किया।''[3]

जगमोहन लाल का स्वागत-भाषण

मुन्शीजी का भाषण उन दिनों राज-दरबारों में प्रचलित उर्दू-मिश्रित हिन्दी होने के कारण सबके लिए सहज बोध्य नहीं है। उसका वर्तमान हिन्दी भाषा में रूपान्तरण इस प्रकार है –

''हम (खेतड़ी के लोग) आज अत्यन्त हर्षित हैं कि आपके कामयाबी के साथ पश्चिमी जगत् से वापस भारतवर्ष पधारने पर, मद्रास में जैसे खेतड़ी-नरेश को ही आपको सबसे पहले मानपत्र पेश करने का और कलकत्ते में आपके दर्शन का मौका मिला, वैसे ही हम खेतड़ीवासियों को भी आज दोनों बातों का मौका प्राप्त हुआ है और (हमें) ज्यादा खुशी इस बात की है कि आज (खेतड़ी में) पधारना होते ही हमारे निमंत्रण को स्वीकार करके, आप हमारे आज के इस जलसे में पधारे। हम लोग बहुत दिनों से यह आशा लगाये हुए थे कि कब वह दिन आये, जब श्री स्वामीजी महाराज के फिर खेतड़ी में दर्शन हों! धन्य हैं परमेश्वर! कि आज मुद्दत से चाहा हुआ वह दिन आ पहुँचा है। हम लोग (अपने इस सौभाग्य पर) फूले नहीं समाते हैं। हम जानते हैं कि दूर-दूर के मुल्कों में हिन्दू धर्म की जय-पताका आज तक वैसा किसी से नहीं फहराया और वेदान्त के प्राचीन सिद्धान्तों को वैसा नहीं प्रचारित किया, जैसा कि आपने स्वयं ही तकलीफ उठाकर दूर-दूर के मुल्कों में जाकर किया है। आपकी कभी यह मंशा न थी कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि किसी का भी धर्म-ईमान बिगड़े या बदले, बल्कि आपका तो उपदेश है कि इन सभी सम्प्रदायों के एकमात्र लक्ष्य परमेश्वर हैं, जिनका परमेश्वर, खुदा या अन्य कोई भी नाम लिया जाय, इस बात को लेकर किसी को झगड़ना नहीं चाहिए। दूसरे के मजहब या फिरके (सम्प्रदाय) की बुराई करने में अपना बड़प्पन बिलकुल नहीं समझनी चाहिए। इन सभी मजहबों-रूपी मोतियों की माला में पिरोयी हुई एक मजबूत डोरी है, जिसको परमेश्वर कहना चाहिए, उस पर सबको एकदिल होकर विश्वास करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति इस सत्य को पहचाने, जो इस सृष्टि की संरचना में शामिल है। – इस जमाने की समझ जैसा चाहिये, आपका यह उपदेश, उन्हीं तरीकों पर हुआ है, जिसमें आपके परमपूज्य गुरु महाराज रामकृष्ण परमहंस जी के सिद्धान्त का असली अंकुर और आपका सविस्तार उपाय बड़े रूप में शामिल है। अमेरिका तथा यूरोप वाले इन दोनों मामलों में इस हिन्तुस्तान को बहुत गिरा समझते थे। इस सन्दर्भ में उनकी समझ का धुँधलापन आपकी कोशिश से दूर हुआ है और उन देशों के हजारों सुयोग्य लोग भारतवर्ष को इस मामले में सबसे ज्यादा तरक्की किया हुआ मानने लगे हैं। आज का जलसा हम लोगों ने इसी बात के प्रति सम्मान दिखलाने के लिए किया है। प्रार्थियों को उम्मीद है कि आप कृपा करके कबूल फरमावेंगे। परमेश्वर आपको सब तरह से आनन्द में रखें।'' खेतड़ी राज के जागीरदार-तनख्वाहदार कर्मचारियों ने यह कहा और हस्ताक्षर किये।...'' (इस अभिनन्दन-पत्र के नीचे रियासत के ४१ गणमान्य लोगों के हस्ताक्षर थे।)

''तदुपरान्त स्वामीजी महाराज श्री विवेकानन्दजी ने श्री हुजूर (राजासाहब) की प्रशंसा में एक भाषण दिया। इसके बाद ठाकुर रामबक्स सिंह बोले। ... इनके बाद राजासाहब ने खड़े होकर एक उपयुक्त उत्तर दिया और व्याख्यान के बाद अपना आसन ग्रहण किया। इसके पश्चात् श्रोताओं के मनोरंजन हेतु कण्ठ-संगीत आरम्भ हुआ।

''इसके बाद राजासाहब, स्वामीजी तथा उनके संगियों को आगे रखकर मन्दिर के पीछे गए, जहाँ भोजन का आयोजन हो रहा था। वहाँ आपके, स्वामीजी के तथा उनके संगियों के लिए आसन तथा चौकियाँ लगी हुई थीं; सभी लोग बैठ गए। अतिथियों की संख्या लगभग ढाई सौ थी। ... लगभग आधे घण्टे बाद भोजन परोसा गया। भोजन के बाद ठाकुर रामबक्सजी ने उन्हें इत्र लगाकर पुष्पमाला पहनाई।

''फिर वहाँ से नौ बजे रवाना होकर तालाब के किनारे के दुकानों पर से खड़े-खड़े आतिशबाजी देखते रहे। इसके बाद बग्घी में सवार होकर महल पधारे। स्वामीजी भी सुखमहल के डेरे में चले गए। पूरा तालाब मिट्टी के प्रज्वलित दीपों से सजाया गया था। दीपों को रखने हेतु तालाब की सीढ़ियों पर तरंगाकार में तथा दरवाजों पर बाँस के ढाँचे बनाकर उन पर मिट्टी के लौंदे रखे गए थे। (भूपाल) गढ़ में भी रौशनी की गयी थी, जिसमें साढ़े तेरह मन तेल लगा था।''

''**१३ दिसम्बर १८९७**, सोमवार। (राजा साहब) सुखमहल में स्वामीजी के पास जाकर उनसे बातें करते रहे।

''**१४ दिसम्बर १८९७**, मंगलवार। शाम के समय (वे) **अजित निवास बाग** में पधारे, स्वामी विवेकानन्दजी भी साथ में गए। लौटकर स्वामीजी के डेरे में पधारे और

३. Swami Vivekananda : A Forgotten Chapter, P. 120, 127

* खेतड़ी राज्य के सभी प्रमुख अधिकारियों के हस्ताक्षर से युक्त इस भाषण की एक प्रतिलिपि स्वामीजी को भी दी गयी थी।

उनसे बातें करते रहे। आठ बजे महल में लौटे।

"**१५ दिसम्बर १८९७**, बुधवार। रात को स्वामीजी आ गए, सो सदर महल में उनके साथ बातें होती रहीं। साढ़े नौ बजे स्वामीजी लौट गए।"[४]

१७ दिसम्बर – खेतड़ी हाई स्कूल में अभिनन्दन, शिक्षा पर व्याख्यान

इस दिन होनेवाली सभा के लिए भेजे गये एक अंग्रेजी निमंत्रण-पत्र की फोटो-प्रतिलिपि खेतड़ी-आश्रम के हॉल में प्रदर्शित है, जिसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

आमंत्रण

"हाई स्कूल की वार्षिक पुरस्कार वितरण सभा में आपकी उपस्थिति के लिए अनुरोध किया जाता है; उस समय हाई स्कूल के प्रांगण में दोपहर के साढ़े बारह बजे पूज्यपाद स्वामीजी तथा श्रीमान् महाराजा साहेब बहादुर को अभिनन्दन-पत्र प्रस्तुत किये जायेंगे।"

पण्डित शंकरलाल
सुपरिंटेंडेंट ऑफ स्कूल्स

सेवा में
मुन्शी जगमोहन लाल जी साहेब
खेतड़ी राज्य की कौंसिल के सदस्य
१७ दिसम्बर, १८९७

इस दिन के कार्यक्रम का विवरण वाकयात रजिस्टर में इस प्रकार दर्ज है – "**१७ दिसम्बर १८९७**, शुक्रवार। डेढ़ बजे राजासाहब विद्यालय में पधारे। स्वामीजी पहले से ही मौजूद थे। वहाँ एक सभा हुई, जिसमें मुख्य शिक्षक शंकरलाल जी ने अपने तथा शिक्षकवृन्द की ओर से महाराजा तथा स्वामीजी को दो अभिनन्दन पत्र पढ़कर सुनाए। राजासाहब ने अपने भाषण में धन्यवाद व्यक्त किया। इसके बाद वे स्वामीजी को **अजित समंद बाँध*** दिखाने ले गए। विद्यालय के लड़के भी आए; उन्हें दो दिन की छुट्टी दी गयी और उनमें पन्द्रह रुपयों के लड्डू बाँटे गए।"[६]

इस दिन के कार्यक्रम का अतिरिक्त विवरण प्राप्त होता है ब्रह्मवादिन् के लेख में – "**१७ दिसम्बर (१८९७)** स्थानीय विद्यालय की एक सभा में राजा और स्वामीजी दोनों को विविध समितियों की ओर से अनेक अभिनन्दन-पत्र दिए गए। राजा को अभिनन्दन प्रदान करनेवालों में था – कलकत्ते का रामकृष्ण मिशन, खेतड़ी का शिक्षा विभाग और स्थानीय युवकों की वाद-विवाद समिति। तदुपरान्त विद्यालय के अल्पवयस्क बालकों द्वारा अनेक कविताओं की आवृत्ति हुई, जिनमें से कई विशेष रूप से राजा के सम्मान में रचित हुई थीं। इसके बाद सभाध्यक्ष खेतड़ी-नरेश के अनुरोध पर स्वामीजी ने मेधावी छात्रों के बीच पुरस्कार वितरित किए। विद्यालय के संचालकों ने भी अपने वार्षिक पुरस्कार-वितरण के लिए इस अपूर्व मौके का उपयोग किया।

"राजाजी ने संक्षेप में उत्तर देते हुए विशेष रूप से रामकृष्ण मिशन को धन्यवाद दिया, क्योंकि रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष वही उपस्थित थे। उन्होंने कहा कि उनके पिता ने उनके पूर्व जिन भावों को लेकर कार्य करने का प्रयास किया था, वे उन्हीं भावों को और भी विस्तारित करने की चेष्टा कर रहे हैं। वे और भी बोले कि उनके राज्य-काल के दौरान शिक्षा-विभाग की खूब उन्नति हो रही है, इस वर्ष तीन नये स्कूलों की स्थापना हुई है और पुराने स्कूल का भी खूब विकास हो रहा है; उन्होंने स्वीकार किया कि चिकित्सा-विद्यालय की उन्नति के लिए भी वे शीघ्र प्रयास करेंगे।

"इसके पश्चात् स्वामीजी ने भी अपनी स्वाभाविक धाराप्रवाह शैली में एक छोटा सा व्याख्यान दिया और राजा को हार्दिक धन्यवाद देते हुए कहा कि वे स्वयं भारत की उन्नति के लिए जो थोड़ा-बहुत कार्य कर सके हैं, वह सम्भव नहीं हो पाता, यदि वे राजाजी से मिले नहीं होते। तदुपरान्त शिक्षा के क्षेत्र में प्राच्य एवं पाश्चात्य आदर्शों की तुलना करते हुए उन्होंने कहा कि पश्चिम का उद्देश्य है सांसारिक अभ्युदय और पूर्व का आदर्श है त्याग। खेतड़ी के युवकों को उपदेश देते हुए उन्होंने कहा कि वे पाश्चात्य आदर्श के चाकचिक्य से भ्रमित न हों और प्राच्य आदर्श को ही पकड़े रहें। उनके मतानुसार शिक्षा का अर्थ मनुष्य के अन्दर उस देवत्व को अभिव्यक्त करना है, जो उसमें पहले से ही विद्यमान है, अत: बालकों को शिक्षा देते समय उन पर हमारा यथेष्ट विश्वास होना चाहिए। हमें यह विश्वास रखना होगा कि प्रत्येक बालक असीम दिव्य शक्ति का भण्डार है और हमारा प्रयास होगा कि उसमें प्रसुप्त ब्रह्म को जगा दें। बालकों को शिक्षा देते समय और भी एक स्मरणीय बात यह है कि उन्हें मौलिक चिन्तन करने को उत्साहित करना होगा। यह मौलिकता का अभाव ही भारत की वर्तमान अवनति का कारण है। उन्होंने कहा, 'कोई भी दूसरों को नहीं सिखा सकता; बालक की उन्नति उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार ही हुआ करती है, शिक्षक उसकी सहायता मात्र करता है।' उन्होंने बालकों की शिक्षा के लिए जिस प्रणाली का विवरण दिया, उसे यदि अपनाया जाय तो वे लोग ठीक-ठीक मनुष्य बनेंगे और जीवन-संग्राम में अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं ही कर सकेंगे।

"इसके बाद सर्वसम्मति से सभापति के प्रति धन्यवाद -

---

४. तथा ५. वही, पृ. १२२-३, १३०-२

* अजीत समन्द नामक इस बाँध का निर्माण १८९२ ई. के जनवरी में आरम्भ हुआ था और २१ मार्च १८९४ में पूरा हुआ। इस पर कुल ३८,०००/– रुपयों की लागत आयी थी। (आदर्श नरेश, पृ. ५४)

प्रस्ताव पारित हुआ और सभा की कार्यवाही समाप्त हुई।''[५]

बँगला के 'भारते विवेकानन्द' ग्रन्थ में स्वामीजी के इस व्याख्यान को थोड़े भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है – ''उनकी (राजासाहब) वक्तृता के उपरान्त स्वामीजी ने संक्षेप में एक भाषण दिया। राजाजी को धन्यवाद देने के पश्चात् उन्होंने कहा – ''भारत के कल्याण हेतु मैंने जो कुछ थोड़ा-बहुत किया है, यदि राजाजी से मेरी भेंट नहीं हुई होती, तो उसे मैं नहीं कर पाता। पाश्चात्य देशों का आदर्श है – भोग और प्राच्य देशों का – त्याग। खेतड़ीवासी युवको ! पाश्चात्य आदर्श की चकाचौंध से विचलित न होकर दृढ़तापूर्वक प्राच्य आदर्श का अनुसरण करो। शिक्षा का अर्थ है – मनुष्य के भीतर पहले से ही जो ईश्वरत्व है, उसे प्रकट करना। अतएव बच्चों को शिक्षा देने के लिए उनके प्रति अगाध-विश्वास-सम्पन्न होना पड़ेगा, विश्वास करना होगा कि प्रत्येक बालक ही अनन्त ईश्वरीय शक्ति का आधार-स्वरूप है और हम लोगों को उसके भीतर स्थित उसी निद्रित ब्रह्म को जाग्रत करने की चेष्टा करनी होगी। बच्चों को शिक्षा देते समय हमें एक बात और याद रखनी होगी; उन्हें इस बात में प्रोत्साहित करना होगा कि वे स्वयं भी चिन्तन करना सीखें। यह मौलिक चिन्तन का अभाव ही भारत की वर्तमान हीन अवस्था का कारण है। यदि इसी प्रकार बच्चों को शिक्षा दी जाय, तो वे लोग मनुष्य बनेंगे और जीवन-संग्राम में अपनी अपनी समस्याओं को हल करने में समर्थ होंगे।''[६]

खेतड़ी से पत्र

अपने खेतड़ी प्रवास के दौरान स्वामीजी ने दो पत्र भी लिखे थे, जो इस प्रकार हैं – **१३ दिसम्बर १८९७ – (भगिनी क्रिस्टिन को)** तुम्हारे वे सारे स्वप्न तथा बुरे पूर्वाभास बड़े रोचक हैं ! तो तुम उस प्रकार से सोचकर मेरे पास उनके बुरे प्रभाव नहीं भेजना चाहती ! मेरा वजन ५० पौंड घट जाय, तो इससे मुझे प्रसन्नता ही होगी। थोड़ा-सा विश्राम ही मुझे फुलाने लगता है और फिर सदा के समान एक मोटा संन्यासी हो जाता हूँ। रेगिस्तान की यात्रा तथा मौसम में बदलाव के कारण मुझे पिछले कुछ दिनों से सर्दी हो गयी है। इसके अतिरिक्त मैं कुशलपूर्वक हूँ। मैं तुम्हारे पत्र के लिये धन्यवाद देता हूँ। मैं इस पर अति प्रसन्न हूँ, क्योंकि यह तुम्हारे मन की दृढ़ता प्रदर्शित करता है। श्रीमती फंकी, स्टेला तथा अन्य सभी को और तुम्हें भी मेरा स्नेह ! ... सर्दी ठीक हो जाने पर मैं तुम्हें इससे भी अच्छा पत्र लिखूँगा।''[७]

१४ दिसम्बर १८९७ – (स्वामी ब्रह्मानन्द को) अभिन्न-हृदय, आज तुम्हारे मुख्तारनामा पर हस्ताक्षर कर भेज रहा हूँ। ... जितना शीघ्र हो सके तुम रुपये निकाल लेना एवं वैसा करते ही मुझे 'तार' से सूचित करना। छतरपुर नामक एक बुंदेलखण्डी राज्य के राजा ने मुझे आमंत्रित किया है। लौटते समय उनके यहाँ होता जाऊँगा। लिमड़ी के राजा साहब भी अत्यन्त आग्रह के साथ बुला रहे है, वहाँ भी जाना पड़ेगा। एक बार झटपट काठियावाड़ का चक्कर लगाकर जाना है। कलकत्ते पहुँचने पर ही शान्ति मिलेगी। ... बोस्टन का समाचार भी तो अभी तक कुछ भी नहीं मिला है, ऐसा मालूम होता है कि सम्भवत: शरत् वापस आ रहा है। ... अस्तु, जहाँ से भी जो कुछ समाचार प्राप्त हो, तत्क्षण ही मुझे सूचित करना। इति। पुनश्च – कन्हाई का स्वास्थ्य कैसा है? पता लगा कि उसका शरीर ठीक नहीं है। उसकी देखभाल अच्छी तरह से करना और इस बात का ध्यान रखना कि किसी पर हुकूमत न होने पाये। हरि (तुरीयानन्दजी) की तथा अपनी कुशलता का समाचार देना।''[८]

ब्रह्मवादिन् के १६ जनवरी के अंक में भी स्वामीजी द्वारा राजाजी के नाम लिखी हुई कविता – If the sun by the cloud is hidden, a bit ... (भले ही तुम्हारा सूर्य बादलों से ढँक जाये ...) तथा 'एक मित्र' द्वारा लिखित खेतड़ी में 'वेदान्त मिशनरी कार्य' शीर्षक से स्वामीजी के वहाँ प्रवास की संक्षिप्त झाँकी भी प्रकाशित हुई है।[९]

''**१८ दिसम्बर १८९७**, शनिवार। अजीत निवास बाग से ७ बजे वापस लौटे और स्वामीजी के डेरे पर गये। उनके साथ बातचीत हुई।

''**१९ दिसम्बर १८९७**, रविवार। तीसरे पहर स्वामीजी के साथ चीराणी की डूंगरी (पहाड़ी) पर पधारे। शिकार किया गया।वहाँ एक घुड़दौड़ भी करायी गयी।''

सम्भवत: इसी दिन हुई एक घटना का विवरण भगिनी निवेदिता ने लिपिबद्ध किया है – ''एक बार जब खेतड़ी-नरेश और स्वामीजी अश्वारोहण करते हुए चले जा रहे थे तो स्वामीजी ने देखा कि राजा के हाथ से काफी खून बह रहा है; स्वामीजी के मार्ग से एक कँटीले वृक्ष की शाखा को अपने हाथ से हटाकर पकड़े रहने के फलस्वरूप ही ऐसा हुआ होगा। स्वामीजी के इस विषय में आपत्ति प्रकट करने पर राजा ने उसे हँसकर उड़ा दिया। उन्होंने कहा था, 'क्या सर्वदा धर्मरक्षा करना ही हमारा कर्तव्य नहीं है, स्वामीजी?''[१०]

❖ (क्रमशः) ❖

५. युगनायक, २००५, खण्ड ३, पृ. ५९-६०; तथा Vivekananda in Indian Newspapers, Ed. 1969, P. 525-26

६. बँगला 'भारते विवेकानन्द', पृ. ४२१-२३ तथा ३४२

७. Complete Works , Vol. 9, p. 99

८. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. ३९२

९. Vivekananda in Indian Newspapers, Ed. 1969, P. 526-27

१०. Work of Sister Nivedita, Vol I, p. 43; युगनायक, ३/६१

करुणामयी माँ

सुरेश चन्द्र चौधरी

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

मेरा जन्म पूर्वी बंगाल में हुआ। हमारा घर फरीदपुर जिले के डहरपाड़ा गाँव में था। मेरे पिता गोपालगंज के सरकारी वकील थे। इस कारण हम लोगों का शैशव तथा कैशोर्य गोपालगंज में ही बीता। स्कूल में पढ़ते समय ही मैं 'अनुशीलन समिति' का सदस्य बना और स्वदेशी आन्दोलन के साथ सक्रिय रूप से जुड़ गया। कुछ दिन बाद पुलिस ने मुझे राजद्रोह के अपराध में गिरफ्तार कर लिया और लगभग डेढ़ वर्ष जेल में रखा। जेल में सहबन्दी एक युवक डॉक्टर के साथ मेरी मित्रता हो गयी। वे भी स्वदेशी-आन्दोलन से जुड़े थे। डॉक्टर मित्र के मुख से मैं सदा श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द की बातें सुना करता। अनुशीलन समिति की सदस्यता और स्वदेशी से लगाव के कारण मेरा पहले से ही श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी के प्रति अनुराग था, लेकिन डॉक्टर मित्र के सान्निध्य में उनके प्रति यह अनुराग और भी बढ़ गया। उन्हीं से मैंने पहली बार जाना कि श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी माँ सारदा देवी तब भी स्थूल देह में हैं और बीच-बीच में कोलकाता आकर अपने बागबाजार के भवन में निवास करती हैं। यह सुनने के बाद मेरा एकमात्र यही लक्ष्य हो गया कि मैं कब और कैसे माँ का दर्शन करूँ। जेल में मुझे जो थोड़ी-सी मजदूरी मिलती थी, उसे मैं थोड़ा-थोड़ा करके जमा करता कि मुक्त होने पर माँ के दर्शन हेतु जाते समय वह राहखर्च के रूप में काम आयेगा।

१९१९ ई. के मई महीने में एक मनोहर प्रभात के समय खुलना जिले के दौलतपुर जेल से मुझे मुक्त कर दिया गया। जेल से मुक्त होते ही मैं प्राणों के आवेग में एक ही वस्त्र धारण किये माँ के दर्शन के लिये निकल पड़ा। उस समय मेरा एकमात्र लक्ष्य था बागबाजार के उद्बोधन कार्यालय अर्थात् 'माँ के घर' पहुँचना। अन्ततः मैं वहाँ जा पहुँचा, पर माँ उस समय वहाँ नहीं थीं। वे कहाँ हैं – यह बिना किसी से पूछे ही, मैं श्यामबाजार में गौरी-माँ के श्रीसारदेश्वरी आश्रम में जा पहुँचा। उस समय छोटा था, मैंने सोचा कि माँ के नाम पर जो आश्रम बना है, माँ वहाँ निश्चय ही मिलेंगी। यहाँ पर यह बता दूँ कि माँ वहाँ नहीं थीं, तो भी वहाँ गौरी-माँ से भेंट हुई। गौरी-माँ ने मुझसे बहुत देर तक बातें की। मेरी सारी बातें सुनने के बाद गौरी-माँ ने मुझसे विप्लव का रास्ता छोड़ देने को कहा। गौरी-माँ को प्रणाम कर मैं फिर निकल पड़ा। लेकिन मैं जो माँ के दर्शन के लिये आया था और माँ कहाँ पर है – यह वहाँ भी मैंने किसी से नहीं पूछा, यहाँ तक कि गौरी-माँ से भी नहीं। सोचा – माँ निश्चय ही कामारपुकुर में होंगी। इसलिये अब मैं कामारपुकुर को चला। जेल की मजदूरी से प्राप्त कुछ रुपये ही मेरे सम्बल थे। इस बीच उसमें कुछ खर्च भी हो चुका था। उन दिनों कोलकाता से कामारपुकुर की यात्रा बड़ा कष्टप्रद थी। कुछ दूर ट्रेन से जाने के बाद, बहुत दूर पैदल चलना पड़ता। मैंने सारी दूरी पैदल ही तय की।

जेठ (मई) का महीना था। प्रचण्ड धूप में कोलकाता से पैदल ही मैं अपनी आराध्या देवी के दर्शन को चला जा रहा था। भूख लगने पर दो पैसे का चने-बताशे खा लेता और रास्ते के किनारे के तालाबों से पानी पी लेता। गर्मी के ताप से पूरा शरीर झुलसा जा रहा था। रास्ते के किनारे तालाबों में डुबकी लगाकर शरीर शीतल करता। भीगे वस्त्र शरीर पर ही सूख जाते। तीन दिन बाद दोपहर को कामारपुकुर जा पहुँचा। पूछताछ करने पर ठाकुर के घर में शिबू दादा से मुलाकात हुई। उन्होंने कहा, "माँ यहाँ तो नहीं हैं, वे तो कोआलपाड़ा में हैं।" हालदारपुकुर में नहाकर शिबू दादा द्वारा प्रदत्त थोड़ा दाल-भात खाकर कोआलपाड़ा जाने के लिये तैयार हुआ। जाते समय शिबू-दादा को प्रणाम करने पर वे बोले, "ठाकुर के अपने हाथों से लगाये पेड़ के ये आम माँ को दे देना।" आम की गठरी लेकर मैं कोआलपाड़ा के रास्ते पर चल पड़ा।

जब मैं कोआलपाड़ा पहुँचा, तो शाम ढल रही थी। आश्रम-भवन के सामने पहुँचने पर मेरा रूखा-सूखा चेहरा और मलिन वेशभूषा देखकर कुछ लोग शायद अवाक् रह गये। उसके बाद जब उन्हें पता चला कि मैं सद्यमुक्त कैदी हूँ, तो उनके चेहरे पर आतंक-सा छा गया। बोले – "एक तो वैसे ही पुलिस हर रोज यहाँ आकर खोज-खबर लेती है। किसी नये व्यक्ति को देखकर नाना प्रकार के सवाल करती

है। तुम्हें देखकर तो पता नहीं और क्या करेगी? तुम्हें तो पकड़कर ले ही जायेगी, उसके साथ-साथ माँ को भी झंझट में फँसा देगी। अतः तुम अभी यहाँ से चले जाओ।'

जब इस प्रकार की बातचीत चल रही थी, तभी एक छोटा-सा बालक आकर बोला, "कलकत्ता से अभी-अभी जो लड़का आया है, उसे माँ अन्दर बुला रही हैं।" इस एक वाक्य से ही मेरा मन-प्राण करुणा की निर्झरणी-धारा से मानो स्निग्ध हो गया। आँखों के कोनों में दो बूँद आँसू भी छलछला आये – शायद माँ के श्रीचरणों में अर्घ्य-स्वरूप !

घर में जाकर देखा – माँ बरामदे में बैठी हैं। मानो कितने दिनों की परिचित हों, वैसे ही मधुर स्वर में वे बोलीं, "जाओ बेटा, हाथ-मुँह धो लो। उसके बाद कुछ खा लो।" शिबू-दादा की दी हुई आम की पोटली माँ के चरणों के समीप रखते हुए बोला, "शिबू-दादा ने ये आम आपके लिये भेजे हैं।" शिबू दादा के घर दोपहर में खाकर आया हूँ – कहने पर माँ बोलीं, "तो क्या हुआ, थोड़ा कुछ खा लो।" हाथ-मुँह धोकर आने पर माँ ने अपने समीप बिछे आसन पर मुझे बैठने को और किसी से कुछ खाने के लिये देने को कहा। नाश्ता देखने में तो सामान्य ही था – एक कटोरा मुरमुरा और एक छोटी कटोरी में चार नरियल के लड्डू। माँ ने कहा, "शिबू के यहाँ भात खाये हो। अब इसे भी खा लो बेटा, रात में अच्छी तरह खिलाऊँगी।" आहार साधारण था, पर उसका स्वाद असाधारण था। खा लेने पर माँ ने कहा, "रात किसी प्रकार कष्ट करके कहीं समीप ही बिताओ, कल सुबह ही स्नान करके तैयार रहना। मैं बुला लूँगी। अब जाकर तुम आराम करो। वरदा तुम्हें ठहरने की जगह दिखा देगा।" माँ के कहने पर एक लड़का रात के विश्राम के लिये मुझे पास ही स्थित कोले परिवार के चण्डी-मण्डप में ले गया। लड़के का नाम था वरदा – जो बाद में स्वामी ईशानानन्द हुए।

अगले दिन सुबह मैं नहा-धोकर तैयार था। सुबह ६ बजे वरदा ने आकर मुझे पुकारा। कहा, "माँ ने बुलाया है।" बीच रास्ते में ही माँ से भेंट हुई। प्रणाम करने पर उन्होंने मुझे संकेत से रास्ते में ही एक गट्ठे पुआल के आसन पर बैठने को कहा। मैं बैठ गया। माँ एक दूसरे आसन पर बैठीं। माँ बोली, "बेटा, ठाकुर को मन-ही-मन प्रणाम करो।" यह मैं समझ ही नहीं सका कि 'ठाकुर' कहने से माँ का तात्पर्य श्रीरामकृष्ण से था। इसलिये मैं निश्चित नहीं कर सका कि किसे प्रणाम करना है। मैंने यह सोचकर माँ को ही प्रणाम किया कि ये ही मेरे ठाकुर हैं। मैंने मुख से तो कुछ नहीं कहा, पर देखा कि माँ के चेहरे पर मधुर हँसी खेल रही है। इसके बाद माँ ने कृपा करके मुझे महामंत्र प्रदान दिया। कैसे जप करना होगा – यह बताने के बाद उन्होंने अपने सामने ही मुझे जप करके दिखाने को कहा। तदुपरान्त वे बोलीं, "अभी यहीं बैठकर थोड़ा जप करो।" थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा, "बेटा, यहाँ से तुम तत्काल जयरामबाटी चले जाओ। यहाँ पुलिस का बड़ा उपद्रव है। वे लोग प्रायः रोज आकर खोज-खबर ले जाते हैं। कोई नया लड़का आने पर उससे पूछताछ करते हैं, कभी-कभी पकड़कर थाने पर भी ले जाते हैं। तुम्हें देखने पर वे लोग पकड़कर थाने ले जा सकते हैं।"

मैं माँ को प्रणाम करके आश्रम आया। देखा – बरामदे में मेरे लिये आसन बिछा है। आसन पर बैठा। एक महिला ने मुझे खाने को दिया। खाना शुरू करने से पहले माँ आयीं। उन्होंने मिश्री का एक टुकड़ा अपनी जिह्वा से छुलाकर प्रसाद बनाकर मेरे हाथों में दिया। खाते समय माँ पास ही में बैठी रहीं। खाना समाप्त हो जाने पर मैं माँ को पुनः प्रणाम करके प्रस्थान के लिये तैयार हुआ। माँ ने मेरे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया, ठुड्डी छूकर हाथ चूमा। जब मैं रास्ते में चला आ रहा था, तो पीछे मुड़कर देखा माँ दरवाजे के सामने खड़ी हैं। उनकी आँखों में आँसू हैं। जब तक मैं दिखाई देता रहा, मैंने देखा – माँ देखती रहीं।

मैं आनन्द से भरपुर होकर रास्ते में चला जा रहा था। जयरामवाटी तथा कामारपुकुर का दर्शन करने के बाद निश्चय किया कि सीधे बेलूड़ मठ जाऊँगा। जब मैं बेलूड़ पहुँचा, उस समय मठ में स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज नहीं थे। साधु लोग मुझे महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) के पास ले गये। महापुरुष महाराज से मैंने सारी बातें बतायी। मुझे माँ की कृपा मिली है – सुनकर और मठ में ब्रह्मचारी के रूप में रहना चाहता हूँ – यह जानकर उन्होंने मुझे मठ में रहने की अनुमति दे दी। मैं कुछ दिन मठ में ब्रह्मचारी के रूप में रहा भी। परन्तु दुर्भाग्यवश मैं खूब बीमार पड़ गया। उस समय मठ में चिकित्सा की सुविधा नहीं थी। महापुरुष महाराज ने मुझसे कहा, "इस समय तुम घर जाकर ठीक से खाओ-पीओ और चिकित्सा कराओ। यहाँ पर रोगी के लिये उपयुक्त भोजन नहीं है, चिकित्सा की भी सुविधा नहीं है।" घर पहुँचकर मैं धीरे-धीरे ठीक तो हो गया, लेकिन घर के लोगों के दबाव में, विशेषकर वृद्ध पिता के दबाव में मैं फिर लौटकर नहीं आ सका। मैंने सारी परिस्थिति सूचित करते हुए महापुरुष महाराज को पत्र लिखा और इस परिस्थिति में मेरा क्या कर्तव्य है, इस विषय में उनसे निर्देश माँगा। उत्तर में महापुरुष महाराज ने लिखा, "इसे भी माँ की ही इच्छा जानना। तुम अभी घर पर ही रहो। माता-पिता की सेवा करो। सद्-गृहस्थ बनो। अच्छे गृहस्थों की भी जरूरत है, नहीं तो ठाकुर का परिवार कैसे चलेगा?"

मुझे बाद में कभी माँ का दर्शन नहीं मिला, लेकिन यह सामान्य-सी स्मृति ही मेरे जीवन का प्रधान सम्बल है।

❑❑❑

जगत् की असत्यता

स्वामी यतीश्वरानन्द

(रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के पूर्व उपाध्यक्ष स्वामी यतीश्वरानन्द जी महाराज (१८८९-१९६६) नव-वेदान्त के एक सुपरिचित आध्यात्मिक विभूति थे। उन्होंने अनेक वर्षों तक यूरोप और अमेरिका में वेदान्त-प्रचार किया था। उनके द्वारा रचित 'ध्यान और आध्यात्मिक जीवन' नामक ग्रन्थ उक्त विषय पर एक उत्कृष्टतम ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत हुआ है। यह लेख श्री सदानन्द कृत 'वेदान्तसार' पर विसबादान, जर्मनी में सन् १९३४ के जनवरी-फरवरी माह में ली गई उनकी कक्षाओं के नोट्स पर आधारित है। अनुवादक हैं स्वामी ब्रह्मेशानन्द – सं.)

जगत् की अनित्यता – माया

जगत् की सत्ता के सम्बन्ध में विभिन्न मतवाद हैं। कुछ लोग कहते हैं कि इसकी वास्तविक सत्ता है, किन्तु वेदान्त के अनुसार जगत् की सत्ता वास्तविक नहीं है, बल्कि वह अविद्या या अज्ञान के कारण पैदा हुई है। सभी प्रकार के विचार और कल्पनाएँ असत् हैं। एक और एकमात्र सत्ता आन्तर और बाह्य पदार्थों के पीछे विद्यमान रहती है। वेदान्त का अध्ययन करते समय इस महत्वपूर्ण बात को याद रखना चाहिये। यह सब कुछ, ये सारे अभिव्यक्त पदार्थ, समस्त व्यावहारिक जगत्, व्यष्टि अज्ञान – यह सब माया से पैदा हुआ है। अत: किसी को उसकी कोई इच्छा नहीं होनी चाहिये। इस विषय में शास्त्रों में जो कहा गया है, उसे देखें।

"ये सब माया के परिणाम हैं और स्वयं माया असत् है। अत: भय नहीं होना चाहिये। सदा ब्रह्म का चिन्तन करो। सोचो कि तुम ब्रह्म से भिन्न नहीं हो। भय पैदा करने वाला मन भी असत् है।"

"वंध्या-पुत्र के वचन सुनने से यदि भय हो, तभी यह जगत् सत्य हो सकता है।"

"यदि खरगोश को सींग हो, तभी यह जगत् सत्य है।"

"यदि खरगोश के सीगों से हाथी को मारा जा सके, तभी यह जगत् सत्य है।"

"मृग-तृष्णा के जल से यदि प्यास मिट जाय, तभी यह जगत् सत्य है।"

"यदि हवाई महल सत्य हो, तभी यह जगत् सत्य है।"

"यदि आकाश की नीलिमा सत्य हो, तभी यह जगत् भी सत्य है।"

"यदि एक माह पूर्व मरा व्यक्ति, अपनी पूर्व देह में पुन: जीवित हो जाय, तभी जगत् सत्य है।"

"गाय के थन से निकलने वाला दूध, यदि पुन: थनों में चला जाय, तभी जगत् सत्य है।"

"धधकती आग में यदि कमल उग सके, तभी जगत् सत्य है।"

"यदि किसी अज्ञानी के लिये ज्ञानी व्यक्ति के हृदय की थाह पाना सम्भव हो, तभी जगत् सत्य है।"

"सोचो कि तुम सच्चिदानन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो और यह जगत् असत् है।"[१]

हम एक अन्य रोचक ढंग से जगत् की सत्ताहीनता का वर्णन करते हैं – "एक वन्ध्या-पुत्र ने मरीचिका के जल में स्नान कर, हाथ में खरगोश के सींगों का धनुष लेकर आकाश-कुसुम से बनी माला पहनी। यदि ऐसा पुत्र सम्भव है, तभी जगत् सत्य है।"[२]

इस विविधतापूर्ण जगत् की अभिव्यक्ति के पूर्व एकमेवाद्वितीय विद्यमान था। वह एक, अवर्ण है, लेकिन अपनी अचिन्तनीय शक्ति से इस विविधतापूर्ण विभिन्न वर्णों वाले जगत् का निर्माण करता है।[३]

शंकराचार्य ने कहा है – "माया परमात्मा की अचिन्त्य अनादि शक्ति है। वह त्रिगुणात्मिका है, जिसकी सहायता से वह इस विविधतापूर्ण जगत् की सृष्टि करती है। वह न तो सत् है, न असत् है और न ही उभयात्मक।"[४]

श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "साँप स्वयं अपने दाँतों में विद्यमान विष से प्रभावित नहीं होता, लेकिन काटने पर वह दूसरे को मार डालता है। इसी प्रकार माया भी भगवान के साथ रहते हुए भी उन्हें प्रभावित नहीं करती, पर वही माया सारे जगत् को मोहित करती है।[५] जैसे बादल सूर्य को आच्छादित करता है, वैसे ही माया भगवान को छिपा देती है। बादल के हटने पर सूर्य दिखाई देता है। माया के हटने पर भगवान प्रकट होते हैं। किसी प्रशान्त और पूर्णत: मेघरहित आकाश में एक बादल सहसा प्रकट होकर सारे परिवेश को अन्धकारमय बना देता है। फिर अचानक हवा के द्वारा वह दूर भी हो जाता है। माया भी इसी प्रकार है। माया अचानक चैतन्य के शान्त आकाश को ढँककर इस दृष्ट जगत् की सृष्टि करती है और पुन: भगवान के नि:श्वास से दूर भी हो जाती है।[६]

माया का अतिक्रमण कैसे करें?

एक भजन में कहा गया है – "हे प्रभु जब आप जगत् में परिव्याप्त हैं, तो आपको इतना पुकारते हुए भी मैं आपको

क्यों नहीं पाता? अब समझा, किसी ने मेरे नेत्रों पर पट्टी बाँध दी है जिससे मैं आपको नहीं देख पाता। कृपया माया का बन्धन हटाकर मेरे नेत्र खोल दीजिये।''

इस माया की पट्टी को हटाना होगा, और जब तक यह आँखों पर है, तब तक यह बाह्य जगत् हमें सत्य प्रतीत होता रहता है। सत्य का साक्षात्कार करने के लिये हमें एक नयी दृष्टि की आवश्यकता है। हमें अपने को, हमारे देह, मन, इच्छाओं को शुद्ध करना चाहिये – क्योंकि शुद्धि के बिना सत्य का साक्षात्कार कभी नहीं किया जा सकता। शुद्धि के बिना इस दृष्ट जगत् का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता, और न ही माया की पट्टी को हटाया जा सकता है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् ।।

– माया को जगतकारिणी प्रकृति और महेश्वर को मायाधीश्वर जानो।''[७] माया महान् जादूगर, भगवान् पर नित्य आश्रित है। यह बाह्य जगत् उसके जादू का ही परिणाम है। वह स्वयं अपने हाथ की सफाई से कभी भ्रमित नहीं होता। साँप का विष उसे हानि नहीं पहुँचाता। ''क्या माया ईश्वर को भ्रमित कर सकती है?'' इस प्रश्न का यही उत्तर है।

ईश्वर तथा उनकी अचिन्त्य माया सदा साथ रहते हैं, पर वे अपनी माया से प्रभावित नहीं होते। साधक को इसके पार जाना है।

ईश्वर के इस जादू के, इस माया के पार जाने के लिये साधक को कठोर नैतिक नियमों का पालन करना चाहिये। उसे अपने देह और मन को शुद्ध करना चाहिये और फलों को भगवत् समर्पित करते हुए अपनी साधना को धैर्य और लगन के साथ करनी चाहिये। उसे इस संघर्ष में मृत्यु के लिये भी तैयार रहना चाहिये। दुर्बल और कामचोर के लिये आध्यात्मिक जीवन नहीं है।

माया से छुटकारा पाने का अचूक उपाय है मायाधीश ईश्वर की शरण में जाना। चूँकि यह महान् जादूगर, अपनी कलाबाजियों से स्वयं प्रभावित नहीं होता, अत: उनके चरणों में शरण लेने पर हम भी उसके जादू को जादू ही समझेंगे, सत्य नहीं। भक्त भगवान की शरण में जाता है, ज्ञानी गुरु की शरण लेता है। गुरु अपरोक्ष अनुभूति-सम्पन्न होते हैं और ऐसे अनुभूति-सम्पन्न पुरुष ईश्वर के साथ एक हो जाते हैं। अत: उनकी शरण लेना भगवद् शरणागति के बराबर है। अत: वस्तुत: भक्त और ज्ञानी के दृष्टिकोण में लगभग कोई अन्तर नहीं है और माया से छुटकारा पाने के उपाय लगभग एक-से ही हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं, ''मेरी माया को पार करना अति कठिन है। वही उसे पार कर पाते हैं, जो मेरी शरण में आते हैं।''[८]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है, ''लाल, श्वेत और काले रंग की एक अजन्मा है, जो अपनी ही जैसी संतति पैदा करती है।''[९] यह कथन प्रकृति के तीन गुणों को इंगित करता है। श्वेत सत्त्वगुण का प्रतीक है, लाल रजोगुण का और काला तमोगुण का। साधक को इन सभी के पार जाना है, क्योंकि ये सभी इस जादुई व्यावहारिक बाह्य जगत् के अंग हैं। तुम्हें पूर्ण वर्णहीनता की स्थिति को प्राप्त करना है। श्वेत होने से भी काम नहीं चलेगा। विशुद्ध सत्त्वगुण की स्थिति भी चरम लक्ष्य नहीं है, भले ही प्रत्येक साधक को सत्य तक पहुँचने के लिये उससे गुजरना पड़े।

सांख्य मतावलम्बी यह दृष्टान्त देते हैं – मूल प्रकृति एक अत्यन्त कुरूप नर्तकी है, जिसने जीव को लुभाने के लिये सुन्दर वस्त्र पहन रखा है। उसके वास्तविक रूप और स्वभाव का पता चलते ही प्रकृति रूपी यह नर्तकी लज्जित हो जाती है और अपनी उपस्थिति और प्रलोभनों से जीव को मुक्त कर भाग खड़ी होती है।

जगत् स्वप्न

आखिर यह जीवन क्या है? हम नाटक के पात्रों की तरह इस संसार में नाटक क्यों कर रहे हैं? हम मानो जाग्रतावस्था में सो रहे हैं। यह सच है कि यह सब कुछ एक स्वप्न है, पर स्वप्नद्रष्टा को स्वयं को कभी नहीं भूलना चाहिये। ये सब विचार हैं, पर सोचने वाला कौन है? वेदान्त के आचार्य चाहते हैं कि हम इस स्वप्न को पहचानें, किन्तु स्वप्नद्रष्टा को कभी-भी आत्मविस्मृत नहीं होना चाहिये। उसे स्वप्न देखना त्याग कर अपने स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिये। वेदान्त का यही सार है और इसे कभी नहीं भूलना चाहिये।

जब तक स्वप्नद्रष्टा स्वप्न देखता रहता है, तब तक स्वप्न सत्य ही होता है। जब स्वप्न देखनेवाले को किसी प्रकार उसके स्वप्न होने का आभास होता है, तभी स्वप्न को भंग करने का प्रश्न उठता है। लेकिन जब तक स्वप्नद्रष्टा स्वप्न के विषय में शंका नहीं करता, तब तक यह नहीं किया जा सकता। हमें 'आत्मा' बनना नहीं है, हम वह हैं ही, लेकिन उससे अनभिज्ञ हैं। उच्चतम चतुर्थ या तुरीयावस्था से देखने पर जाग्रतावस्था भी एक प्रकार का स्वप्न ही है। अब अतिचेतनावस्था की उपलब्धि और इस स्वप्न से छुटकारा पाने के लिये हमें कदम उठाने चाहिये। आदर्श का साक्षात्कार करना तथा जो अब तक हमारे लिये सत्य रहा है, उसे असत्य बनाना हमारा लक्ष्य है। संसार रूपी स्वप्न तभी तक सत्य प्रतीत होता है, जब तक हम जगते नहीं, जब तक आत्मा का हमें दर्शन प्राप्त नहीं होता। हमारी जाग्रतावस्था स्वप्नावस्था से अधिक सत्य नहीं है। दोनों ही असत् हैं।

चेतना की तीन अवस्थायें

एक अवस्था के बाद दूसरी के आने के कारण जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों में से कोई भी सत्य नहीं कही

जा सकती। परिवर्तनशील, क्षणस्थायी सापेक्षित जगत् की कोई भी वस्तु कभी भी सत्य नहीं कही जा सकती। अधिक-से-अधिक उसकी सत्ता गौण है और यह चेतना की इन सभी अवस्थाओं के अधिष्ठान आत्मा की एक मात्र सत्ता पर पूरी तरह आश्रित है। चेतना की इन तीन अवस्थाओं का साक्षी अपरिवर्तनशील आत्मा, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में क्रमश: विश्व, तैजस् और प्राज्ञ कहलाता है और उनसे पूरी तरह अप्रभावित बना रहता है।

सुषुप्ति में चैतन्य विद्यमान रहता है। निद्रा से जागने पर हम कहते हैं, ''मैं कुछ भी नहीं जानता था''। लेकिन ''मैं कुछ भी नहीं जानता था'' हमारे ऐसा कह पाने के लिये चैतन्य का होना आवश्यक है। अत: हम ऐसा कोई काल सिद्ध नहीं कर सकते जब चैतन्य विद्यमान न हो।

तुलनात्मक विवेचन और स्वप्न और जाग्रतावस्था के अनुभवों का बार-बार मनन करने पर हम क्रमश: व्यावहारिक जगत् की असत्यता का अनुभव कर पायेंगे। जाग्रतावस्था में दृश्यमान बाह्य जगत् स्वप्नदृष्ट जगत् के समान ही असत् है। स्वप्नदृष्ट जगत् स्वप्न देखने वाले को उतना ही सत्य प्रतीत होता है, जितना जाग्रतावास्था में दिखाई देनेवाला जगत् उसे देखने वाले को गलती से सत्य प्रतीत होता है। स्वप्न में दिखाई देने वाले विषय स्वप्नद्रष्टा को उतना ही हर्ष और शोक प्रदान कर सकते हैं, जितना जाग्रतावस्था में जगत् के दिखाई देने वाले पदार्थ उनके अनुभवकर्त्ता को।

सच्चे वेदान्ती का लक्ष्य सभी उपाधियों को नष्ट कर चतुर्थ, तुरीय अवस्था की प्राप्ति ही है, जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता और जिसे ''एकमेवाद्वितीयम्' कहा जाता है। तुम्हें यह बात कभी भी नहीं भूलना चाहिये कि वेदान्त का लक्ष्य जीव को माया तथा उसकी ससीम चेतना से मुक्त करने के पश्चात् जाग्रतावस्था में ही परमात्मा के साथ एकत्व का बोध कराना है। सारी साधना का उद्देश्य उच्चतम चेतना का स्वयं साक्षात् अनुभव करना है।

सत्य ज्ञानोदय के बाद व्यावहारिक जगत् भले ही प्रतीत होता रहे, लेकिन वह ज्ञानी को पूर्ववत् प्रभावित नहीं करता। वह उसका सापेक्षिक, क्षणिक, छायामात्र और असत् के रूप में सही मूल्यांकन करेगा और जीवन के सुख और दुखों से प्रभावित नहीं होगा। स्वप्न से जागने के बाद हमें स्वप्न का स्मरण बना रहता है, पर हम कभी उसे सत्य नहीं मानते, भले ही वह कितना ही सुखदायक या दुखदायक क्यों न रहा हो।

सामान्य व्यक्ति के लिये सुषुप्ति, स्वप्न, तथा जाग्रत चेतना की ये तीन अवस्थाएँ ही होती हैं। लेकिन वेदान्त चार अवस्थाओं को स्वीकार करता है तथा इस चतुर्थ, अतिचेतन अवस्था को महत्त्व देता है। साधक को अपने सामान्य जीवन की जाग्रत अवस्था में उस अतिचेतन अवस्था का कुछ अंश लाना चाहिये।

अविद्या और अध्यास

एक तप्त लौह पिण्ड की ज्वलन शक्ति लौह पिण्ड में नहीं, बल्कि अग्नि में होती है। यह अग्नि सीसे के गोले या लकड़ी के एक टुकड़े में भी हो सकती है। यह अग्नि-तत्त्व तप्त लौह पिण्ड, तप्त ईंट, या लावे के साथ संयुक्त हो सकता है, अथवा वह एक ज्वाला के रूप में भी प्रकट हो सकता है। पर जो जलाता है, वह यही अग्नि-तत्त्व है। यह ज्वलनशीलता उसे सीमित करने वाली किसी उपाधि की नहीं होती, बल्कि उस तत्त्व की अपनी होती है। उसी प्रकार देह और मन चेतन प्रतीत होते हैं, पर यह चैतन्य आत्मा का होता है।

ज्योंही तुम एक रस्सी को सर्प समझते हो, त्योंही भय, उसे मारने का विचार, कैसे मारना आदि विभिन्न भाव तुममें उदित होते हैं। ज्योंही तुम काँच के एक टुकड़े को हीरा समझने लगते हो, त्योंही लोभग्रस्त हो उसको पाने की इच्छा करने लगते हो। सीपी को चाँदी समझने का परिणाम भी यही है। देह को सत्य समझते ही तुममें काम और शरीर-सुख की इच्छा उठती है। पहली भूल ही सदा परवर्ती भूलों तथा हमारे जीवन को गढ़ने वाले सारे असत्यों का कारण होती है। इसीलिये प्रथम त्रुटि का समूल नाश करना आवश्यक है।

यह प्रारम्भिक अज्ञान बहुत सत्य वस्तु है। यह वंध्यापुत्र अथवा शशकशृंग की तरह मात्र काल्पनिक बिल्कुल नहीं है। यह अज्ञान काल्पनिक नहीं, बल्कि सत्य है। यह कल्पना की श्रेणी में आता ही नहीं। रस्सी के स्थान पर साँप ऐसा असत्य नहीं है, जहाँ साँप की प्रतीति का कोई आधार ही न हो। रस्सी वह अधिष्ठान है, जिस पर सर्प की प्रतीति आरोपित है। सर्प किसी शून्य या असत् पर किसी भी प्रकार आधारित नहीं होता। माया केवल शून्य की तरह एक भ्रम मात्र नहीं है।

व्यावहारिक जगत् का चैतन्य के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं है। वह असत् है, क्योंकि वह जड़, मृत, क्षणिक और प्रतिबिम्बों का भी प्रतिबिम्ब है। आत्मा बाह्य जगत् का कारण नहीं है, और न ही बाह्य जगत् कार्य है। रस्सी को सर्प समझने की भूल होने पर तुम रस्सी को सर्प का कारण नहीं मानते, तुम यह नहीं समझते कि रस्सी किसी भी प्रकार से सर्प में परिणत हो गई है। सही ज्ञान के अभाव में रस्सी में साँप दिखता है, पर वह साँप में कभी परिवर्तित नहीं होती। आत्मा और समग्र विविधतापूर्ण जगत् के सम्बन्ध में भी यही बात है।

वेदान्तवादी क्रम-विकास को एक अवस्था के रूप में स्वीकार करता है, चरम लक्ष्य के रूप में कभी नहीं। उसके लिये यह क्रम-विकास भी एक प्रतीति मात्र है, पूर्ण सत्य नहीं। वेदान्तवादी के लिये क्रम-विकास कभी भी चरम सत्य नहीं होता। वह भी रस्सी में सर्प की तरह एक प्रतीति मात्र है। वह एक अवस्था-विशेष के लिये सत्य होते हुए भी सत्य के पथ पर उस अवस्था को पार करने पर वह फिर सत्य नहीं रहता।

यहाँ एक वस्तु का अन्य वस्तु में परिणत होने का सवाल नहीं है। यह दूध का दही बनने जैसी बात नहीं है। ऐसा होने पर वह अपना वास्तविक स्वरूप खो देगा। यह तो रस्सी का साँप बनने जैसा है। और इस गलती के होने पर, रस्सी को साँप समझने की त्रुटि करने पर, एक सच्चे साँप के साथ होने वाली भय इत्यादि सारी समस्याएँ आ पड़ती हैं।

हम असत्य को सत्य, जड़ को चेतन और स्थूल पदार्थ को आत्मा समझ बैठते हैं। हम सदा किसी आरोपित वस्तु को सत्य का स्थान प्रदान करते हैं। शंकराचार्य कहते हैं, "हम जो वस्तु जैसी नहीं है, उसे वैसा समझते हैं।" हमें सही पद्धति का धैर्य और लगन के साथ अनुसरण कर, इन सभी गलत विचारों और गलत मान्यताओं को दूर करना है।

हम शाश्वत जीवन इसलिये चाहते हैं क्योंकि हमारा वास्तविक स्वरूप शाश्वत है। सर्वप्रथम हमें देह और उसकी सभी उपाधियों के साथ मिथ्या तादात्म्य दूर करना चाहिये। देह, मन, अन्त:करण आदि शाश्वत कभी नहीं हो सकते और जब तक उनके साथ हमारा तादात्म्य बना रहेगा। तब तक हमारे लिये शाश्वत जीवन सम्भव नहीं है।

तुम्हारे मन में उठे सभी विषय माया हैं। तुम्हें ज्ञाता से ज्ञेय को, द्रष्टा से सभी दृष्ट पदार्थों को तथा साक्षी से सभी साक्ष्य पदार्थों को पृथक करना है। आध्यात्मिक यात्रा के सभी स्तरों पर निर्मम और स्पष्ट विश्लेषण तथा स्पष्ट चिन्तन होना चाहिये। माया के आवरण को हटाने पर हम पायेंगे कि 'क' और 'ख' ज्ञाता और ज्ञान एक ही हैं। कान्ट ने जिसे देश, काल और निमित्त कहा है, वह वेदान्त के अनुसार माया के क्षेत्र में है और उसका अतिक्रमण करना चाहिये।

भौतिक पदार्थ सदा दृश्य ही होते हैं, क्योंकि वे किसी-न-किसी इन्द्रिय द्वारा जाने जाते हैं। इन्द्रियाँ स्वयं मन की दृश्य हो जाती हैं। फिर मन आत्मा का दृश्य बन जाता है, जो सदा द्रष्टा या साक्षी बना रहता है, और कभी भी दृश्य नहीं होता, क्योंकि ऐसा होने पर 'अनवस्था दोष' होगा। हमें कहीं-न-कहीं तो रुकना होगा।

हम किसी-न-किसी रूप में असत्य मान्यताओं पर जी रहे हैं, अत: इन मिथ्या मान्यताओं का निराकरण आवश्यक है। असत्य से चिपकने वालों के लिये सत्य सदा पीड़ादायक होता है। ऐसे बहुत से लोग हैं जो अपने स्वप्नों के भंग होने की आशंका से आध्यात्मिक जीवन से अत्यधिक भयभीत हैं। वे सारे जीवन अपनी प्रिय मान्यताओं और असत्य से सदा चिपके रहते हैं। हम सामान्यत: ऐसे लोगों को पाते हैं, जो मिथ्या स्वप्न देखना चाहते हैं, जो सत्य का सामना नहीं करना चाहते तथा जो अपनी प्रिय मान्यताओं के नाश का कष्ट सहन नहीं करना चाहते। लेकिन इस नाश के बिना आध्यात्मिक जीवन सम्भव ही नहीं है।

बिल्कुल अंधेरे कमरे में लम्बे समय तक रहने वाले लोग प्रकाश आने पर उसे सहन नहीं कर पाते। उल्लू दिन में नहीं देख सकता। अभी हमारे लिये अन्धकार बहुत सत्य है, तब तक, जब तक प्रकाश न आ जाय। आध्यात्मिक अनुभूति या साक्षात्कार का अर्थ अन्धकार का हटना और उस ज्योति का आगमन, जो अपने प्रकाश के लिये अन्य ज्योति पर निर्भर नहीं है, जो ज्योति प्रतिबिम्बित प्रकाश नहीं है।

बन्धन और मुक्ति

स्वामी विवेकानन्द अपनी एक कविता में लिखते हैं –

तुमने ही उस रस्सी को पकड़ रखा है,
जो तुम्हें खींच रही है।
रस्सी को छोड़ो दो, वीर संन्यासी,
कहो, "ओम् तत् सत् ओम्।।[१०]

हम यह अहसास नहीं करते कि हमें इस जंजीर से बचना चाहिये। इसके बदले हम उसे पकड़े रहते हैं और तहे दिल से अपने से चिपकाये रहते हैं। लेकिन अन्तत: किसी दिन हमें एक साहसिक कदम उठाकर इसे त्यागना होगा। यह स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के बन्धनों पर लागू होता है। संसार की सभी वस्तुओं तथा स्वयं के व्यक्तित्व की पकड़ को त्याग दो और बल पूर्वक केवल ब्रह्म को पकड़ लो और उसके साथ एक हो जाओ। नये बन्धन बाँधे बिना हमें पुराने बन्धन काटने हैं। यह सबसे पहला कदम है और उन्हें काटे बिना लक्ष्य कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

इन सारे पूर्व जन्मों में हमने असत् पदार्थों के साथ स्वयं को उलझा दिया है। अब हमें विपरीत प्रक्रिया के द्वारा अज्ञान से हमारे लिये निर्मित इन सभी बन्धनों और शृंखलाओं से मुक्त होना होगा। हमें उत्साहपूर्वक और समझ-बूझकर विपरीत चिन्तन-प्रवाह पैदा करना होगा। देह, मन और अहंकार के साथ मिथ्या अध्यास के बदले हमें यह सोचना चाहिये कि हम देह, मन, अहंकार आदि सीमित उपाधियों से पृथक हैं। जंजीर चलायमान है, पर हम उसे पकड़े रहने के कारण खींचे चले जा रहे हैं और उसे छोड़ने के बदले शिकायत कर

रहे हैं, "ओह ! यह जंजीर मुझे खींच रही है।" कार्य-कारण की, जीवन और मृत्यु की इस जंजीर को छोड़ दो। पवित्र, पवित्र और पवित्रतर बनने का प्रयत्न करो। अपनी साधना लगन और धैर्य के साथ समझ-बूझकर बिना किसी व्यवधान के करो। तब आध्यात्मिक जीवन का व्यावहारिक पक्ष भी तुम्हारे लिये सरल और स्वाभाविक हो जाएगा।

एक बार दो आदमी नदी के किनारे खड़े थे। उन्होंने एक सुन्दर कम्बल को नदी में बहते देखा। एक ने दूसरे से कहा, कूदकर उसे ले आओ, वह कितना सुन्दर कम्बल है!" दूसरा व्यक्ति कूदा और तैरकर कम्बल को थामा, पर उसे किनारे लाने के बदले उसके साथ खिंचकर बहने लगा। यह देख किनारे खड़े व्यक्ति ने चिल्लाकर कहा, "कम्बल को छोड़ दो, कम्बल को छोड़ दो।" दूसरे ने उत्तर दिया, "मैं नहीं छोड़ पा रहा हूँ, कम्बल ने ही मुझे पकड़ रखा है।" देखो, उस कम्बल के नीचे एक भालू छुपा था।

ज्योंही हम भोग-विषयों को प्राप्त कर, उनका भोग करने के लिये उनके पीछे बेताहाशा दौड़ते हैं, त्योंही वे हमें पकड़ कर हमारी जीवनी शक्ति और रक्त चूसने लगते हैं। यह उन सभी के साथ होता है, जो स्वयं को इस मिथ्या संसार के जाल में फँसा देते हैं।

तुम्हें अपने पर जमी पपड़ियों को दिन-प्रतिदिन ठोकते रहना चाहिये, जिससे कोई स्थान नरम पड़ जाय और बाद में हल्की-सी चोट से वह टूट जाय। यह कार्य एक जोरदार वार से भी किया जा सकता है, लेकिन यदि मन पूरी तरह से शुद्ध और तैयार न हो तो यह बहुत खतरनाक है। अपनी पपड़ियों पर सतत, चूके बिना निर्मम प्रहार करते जाओ। देखो, एक छोटी चिड़िया यदि पर्याप्त विकसित हो गई हो, तो उसे अंडे से निकालने में तुम सहायता कर सकते हो। लेकिन यदि तुम उसकी पपड़ी को बहुत जल्दी तोड़ दो, तो बेचारी चिड़िया अवश्य मर जायेगी।

वेदान्त सूत्र में कहा गया है – "यह निर्देश है कि सत्य की आवृत्ति तथा उसका सतत् अनुध्यान करना चाहिये – '**आवृत्तिरसकृत् उपदेशात्**'।"[११]

आध्यात्मिक जीवन के अधिकारी के लिये जब यह विधान है, तो तुम्हें तो सत्य की आवृत्ति और अधिक करनी चाहिये। मन को रंजित और पूरी तरह अभिभूत करने वाली असत् मान्यताओं का समूल उच्छेद करने के लिये सत्य का यह सतत अभ्यास और आवृत्ति आवश्यक है।

❑❑❑

सन्दर्भ सूत्र –

१. योगवाशिष्ठ में ऐसे विचार प्रचुर मात्रा में हैं, लेकिन इस उद्धरण का सटीक सन्दर्भ प्राप्त नहीं हो सका है।
२. देखिये, लघु योगवाशिष्ठ ३,७.
३. छान्दोग्य उपनिषद् ६/२/१,
४. विवेक चूडामणि, १०८-१०९
५. Gospel, 1997, p. 102
६. Ibid, p. 169
७. अजां एकां लोहित शुक्लकृष्णां, बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। – श्वेताश्वतर उपनिषद् - अध्याय ४, मन्त्र ५
८. भगवद्गीता, ७.१४
९. मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।
श्वेताश्वर उपनिषद्, अध्याय - ४, मन्त्र - १०
१०. अन्वेषण व्यर्थ तुम्हारा शास्त्रों मन्दिर मन्दर में,
जो तुमको खींचा करती वह रज्जु तुम्हारे कर में।
दुख शोक त्याग दो सारा तुम वीतशोक बस हो लो
वह रज्जु हाथ से छोड़ो, बोलो संन्यासी बोलो॥ ॐ,तत्सत् ॐ
११. वेदान्तसूत्र ४.१.१

जहाँ राम तहाँ काम नहीं

अच्छा फौलाद बनाने के लिये लोहे को बार-बार भट्ठी में तपाना पड़ता है और बार-बार हथौड़े से पीटना पड़ता है; तभी उससे पतली धारदार तलवार बन सकती है, जिसे चाहे जिधर झुकाया जा सकता है। इसी प्रकार शुद्ध नम्र बनकर ईश्वर-दर्शन की योग्यता प्राप्त करने के पहले मनुष्य को भी शोक-ताप में जलना पड़ता है; दुःख-क्लेश की चोट सहनी पड़ती है। शरीर को सुख हो या दुःख, सच्चे भक्त का ज्ञान-विश्वास नष्ट नहीं हो पाता। उसका ज्ञान-विश्वास कभी मन्द नहीं होता। देखो, पाण्डवों को कितनी सारी विपदाएँ झेलनी पड़ीं, परन्तु इसके बावजूद क्षण भर के लिए भी उनके भीतर ज्ञान-ज्योति बुझ नहीं सकी।

जिस घर में रहा जाता है, उसका टैक्स भरना पड़ता है। उसी प्रकार इस देह में निवास करते समय रोग-शोक आदि टैक्स भरना पड़ता है। रोग के प्रति अपना मनोभाव व्यक्त करते हुए श्रीरामकृष्ण कहते – "देह का रोग देह ही जाने; रे मन, तू आनन्द में रह।"

– *श्रीरामकृष्ण*

महान् योगी स्वामी भास्करानन्द

विजय प्रकाश त्रिपाठी

भारत सन्त और योगियों की पवित्र भूमि है। इसी शृंखला तथा परम्परा में कानपुर देहात के मैथा-लालपुर ग्राम में संस्कृत के विख्यात् विद्धान् एवं धर्मनिष्ठ पं. मिश्रीलाल जी के पुत्र रूप मोतीराम का जन्म १८३३ ई. में हुआ। यही मोतीराम आगे चलकर स्वामी भास्करानन्द के नाम से विश्व-विख्यात् हुए। मोतीराम जब ८ वर्ष के थे, तभी आपका उपनयन संस्कार हुआ। जब वे बारह वर्ष के हुये तो विवाह कर दिया गया। केवल १८ वर्ष की आयु में आपके पुत्र हुआ। इस बीच मोतीराम ने संस्कृत का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इसी समय वे काशी में विशेष अध्ययन हेतु पहुँचे, जहाँ वे सन्त-महात्माओं के सम्पर्क में आये और उनका पारिवारिक जीवन से मोहभंग हो गया।

मोतीराम जी सन्त-वेष में उज्जैन पहुँचे, जहाँ वे श्मशान घाट पर रहकर घोर साधना में लीन हो गये। उनकी यहीं पर सन्त स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती से भेंट हुई। मोतीरामजी इनसे अत्यन्त प्रभावित हुये और पूर्णानन्दजी से विधिवत् दीक्षा ले ली। संन्यास के विधानानुसार आप स्वामी भास्करानन्द सरस्वती हो गये। फिर वे अपने जन्मस्थान मैथा-लालपुर गये। वहाँ भिक्षा-ग्रहण करके माया के समस्त बन्धनों को तोड़ने के बाद वे तीर्थाटन के लिये निकल पड़े। आपकी यह तीर्थयात्रा सुदीर्घ तेरह वर्षों तक चली। अन्त में आप फिर काशी आये और वहीं रम गये।

काशी में आपने उग्र साधना प्रारम्भ की। यहाँ आपने आहार, वस्त्र, आसन, आवास सभी कुछ का परित्याग कर दिया। कठिन जाड़े के दिनों में आप पूर्ण नग्न होकर गंगाजी में काठ की तरह पड़े रहते और भीषण गर्मी के दिनों में तपती बालू में पूर्ण प्रसन्न मुद्रा में लेटे रहते। यदि उनके सामने कोई श्रद्धालु कोई खाद्य-सामग्री दे जाता, तो वे वहाँ से उठकर चले जाते। प्राय: ध्यान व समाधि में लीन रहते। जब उनके दर्शन हेतु भीड़ बढ़ने लगती, तो वे गंगाजी को पार करके रामनगर चले जाते थे। इस कठोर तपस्या का क्रम कई वर्षों तक चला। साधना और तपस्या की अवधि पूर्ण होने के उपरान्त भास्करानन्दजी लोक-कल्याण की ओर उन्मुख हुये। पहले वह बहुत कम लोगों से मिलते थे, लेकिन अब जनसाधारण के लिये उनके आश्रम के कपाट खुल गये। स्वामीजी अपनी असीम-योग शक्ति से आने वाले लोगों का कल्याण करने लगे। आपकी ख्याति भारत ही नहीं, अपितु विदेशों में भी होने लगी। ब्रिटिश सरकार के अनेक उच्च अँग्रेज अधिकारी उनके विशेष भक्त थे। स्वामीजी के विदेशी दर्शनार्थियों में अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक मार्क ट्वेन, जर्मनी के राजकुमार कैसर, रूस के जार के पुत्र निकोलस, बेल्जियम के बादशाह, नेपोलियन बोनापार्ट के पौत्र, डॉ. एनी बेसेन्ट और ब्रिटिश संसद के अनेक संसद सदस्य थे। भारत में स्वामीजी के शिष्यों की संख्या लगभग एक लाख थी, जिनमें धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित सभी वर्गों के लोग थे। स्वामीजी की सभी पर समान कृपा थी।

स्वामी भास्करानन्दजी मात्र तपस्वी नहीं थे। उनके सम्पर्क में आने वाले जिज्ञासुओं को योग-शास्त्र के कई चमत्कार भी दिखाई दिये। आप अध्यात्म-विद्या के असाधारण विद्वान भी थे। आपने दस उपनिषदों की सरल संस्कृत में टीकायें लिखी थीं। 'स्वराज्य-सिद्धि' नामक ग्रन्थ का भाष्य किया था। वेदान्त तथा दर्शन-शास्त्र पर तो आपका पूर्णाधिकार था ही। भास्करानन्दजी ने १८९९ ई. में काशी के 'आनन्द-बाग' में समाधि ली थी। यहाँ पर उनके भक्तों ने प्रचुर धन व्यय करके सफेद संगमरमर की एक भव्य समाधि का निर्माण कराया है, जो आज भी असंख्य लोगों के लिये प्रेरणा का स्रोत है।

स्वामी भास्करानन्द के नाम पर नखल ग्राम में भास्करानन्द इण्टर कॉलेज की स्थापना हुई है। आप अपने युग के महान् योगी एवं परम त्यागी महात्मा थे। आज भी उनके तेजोमय व्यक्तित्व से अगणित लोगों को सन्मार्ग की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा मिल रही है। अमेरिका के विख्यात् लेखक मार्क ट्वेन के शब्दों में – "स्वामी भास्करानन्द देवतुल्य हैं।"

मन पर अंकुश लगाओ

हाथी को मुक्त छोड़ दिया जाए तो वह चारों ओर पेड़-पौधों को तोड़ते-मरोड़ते हुए चलने लगता है, पर जब महावत उसके सिर पर अंकुश का वार करता है तब वह शान्त हो जाता है। इसी प्रकार मन को बेलगाम छोड़ देने पर वह तरह-तरह की फालतू चीजों का विचार करने लगता है, पर विवेकरूपी अंकुश का वार करते ही वह शान्त, स्थिर हो जाता है। – *श्रीरामकृष्ण*
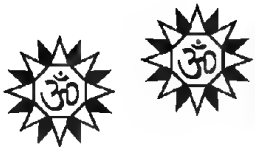
पातञ्जल-योगसूत्र-व्याख्या (१६)
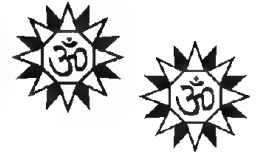
स्वामी प्रेमेशानन्द

(माँ श्री सारदा देवी के वरिष्ठ शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी ने १९६२ ई. के फरवरी माह में अपनी अस्वस्थता के दौरान वाराणसी में अपने सेवक को पातञ्जल योगसूत्र पढ़ाया था। इनके पाठों को सेवक एक नोटबुक में लिख लेते थे। बाद में सेवक – स्वामी सुहितानन्द जी ने उन पाठों को सुसम्पादित कर एक बँगला ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ पातञ्जल योग जैसे गूढ़ विषय पर इस सहज-सरल व्याख्या का हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ।।८।।

– इन तीन प्रकार के कर्मों से केवल वे ही वासनायें प्रकाशित होती हैं, जो उस अवस्था में प्रकाशित होने के योग्य रहती हैं। (अन्य सभी वासनायें उस समय स्थिर, संचित रहती हैं।)

जाति-देश-काल-व्यवहितानामप्यानन्तर्यं-स्मृति-संस्कारयोरेकरूपत्वात् ।।८ ।।

– स्मृति और संस्कार के एकरूप होने के कारण जाति, देश और काल का व्यवधान रहने पर भी वासनायें अनन्त काल तक रहती हैं, अर्थात् निरन्तर रहती हैं, उनमें कोई बाधा नहीं होती।

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ।।१० ।।

– सुख की वासना नित्य होने के कारण वासनायें भी अनादि हैं।

व्याख्या – जीव पूर्व-संस्कारों से वशीभूत होकर कर्म करता है और यह कर्म पुन: संस्काररूप में चित्त में संचित होता है। ठीक 'व्यूमेरा अस्त्र' की तरह। हाँ, लेकिन यह कर्म कब प्रारम्भ हुआ था, उसे कोई नहीं बता सकता। केवल चक्र के समान उसमें हमारा जीवन अनन्त काल तक घूमते-घूमते अन्त में एक-दिन इस घूर्णि-चक्र से किसी तरह बाहर निकल जाने से शाश्वत शान्ति मिलती है। इस प्रकार कर्म का आदि नहीं है, किन्तु अन्त है, यह सिद्धान्त पाया जाता है।

जो लोग पूर्ण-ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे कहते हैं कि यह संसार स्वप्न के समान है। स्वप्न में हम लोग कितना जीव-जन्तु, पेड़-पौधा, घर, मकान आदि देखते हैं और कितने प्रकार की घटनायें अपनी आँखों से देखते हैं किन्तु निद्रा से जागने के बाद हमलोग नि:सन्देह समझ जाते हैं कि ये सारी वस्तुयें कुछ भी नहीं थी और कोई घटना भी नहीं घटी है। यह एक अद्भुत इन्द्रजाल या जादू मात्र है। स्वप्न में मन इन सब वस्तुओं का आकार धारण करता है और अनेकों प्रकार की मुद्रा में हाव-भाव से इन सब घटनाओं का मात्र अभिनय करता है। स्वप्न के संसार में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, ये चार ही जादू का खेल दिखाते हैं। वास्तव में सूक्ष्म-शरीर ही इन सब दृश्यरूपों में हमलोगों के समक्ष उपस्थित होता है। ठीक रंगमंच के अभिनय के सदृश ही यह सम्पूर्णत: मिथ्या है। हमने स्वप्न में जिस व्यक्ति को देखा था, वह तो वास्तविक रूप से किसी माता-पिता के गर्भ से, किसी स्थान या किसी समय में जन्म-ग्रहण नहीं किया। इस जीवन-निद्रा के टूट जाने पर और माया का आवरण दूर होने के बाद योगी समझ सकते हैं कि उन्होंने जो कुछ देखा था या अनुभव किया था, वह सब कुछ स्वप्न के सदृश मिथ्या है।

कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता। चिरन्तन जीवित रहना चाहता है। इसीलिये एक शरीर के नष्ट होते ही वह दूसरा शरीर धारण कर लेता है। घटना-क्रमानुसार या कर्मफल के कारण जिस स्थान, जिस समय और जिस परिवेश में उसका शरीर निर्मित होता है, उसमें ठीक वैसी ही वासनायें अभिव्यक्त होती हैं। एक जन्म में अनन्त जन्मों की संचित वासना का भोग करना सम्भव नहीं है। इसीलिये जिस अवस्था में जिन भोगों की सम्भावना है, मात्र उन्हीं का भोग हो पाता है। यदि कोई पुरुष कर्मवशात् नारी के शरीर में जन्म-ग्रहण करता है, तो उसके मन में नारियों जैसी भोग-वासना उत्पन्न होगी, पुरुष शरीर में जो वासनायें रहती हैं, वे सब उत्पन्न नहीं होंगी। इस प्रकार अनन्त रूपों में शरीर-धारण करने से पूर्व संचित-कर्म का मात्र कुछ अंश का ही भोग होता है, शेष सब संचित रहकर बार-बार जन्म का कारण बनता है। सौ जन्म पहले कोई कार्य करने के कारण चित्त में एक संस्कार संचित हुआ था। पूर्वजन्मों में परिस्थिति प्रतिकूल होने के कारण, चित्त में उस वासना के उदय होने का सुयोग नहीं मिल रहा था। सौ जन्म बाद सुयोग, अनुकूल परिस्थिति पाकर उसी वासना का उदय हुआ। कर्म और जन्मान्तर का रहस्य ज्ञात कर लेने पर जीवन-विकास के मार्ग की बहुत-सी बाधाओं को दूर किया जा सकता है।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ।।११ ।।

– वासनायें हेतु, फल, आश्रय और विषय के साथ संयुक्त रहती हैं। इनसे वासनाओं का संग्रह होता है। इनका अभाव होने से वासनाओं का भी अभाव हो जाता है अर्थात् वासनायें भी नष्ट हो जाती हैं।

व्याख्या – इस संसार में एक तृण से लेकर मनुष्य तक, अनन्त प्रकार की जीवन-लीला चल रही है। प्रत्येक

प्राणी अपने जीवन की रक्षा और विषय का भोग – इन दो उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु वह अपने जीवन में निरन्तर कितना कठोर उद्यम करता रहता है, वह सोचने पर भय होता है! हमलोगों के शरीर में दिन-रात कितना बड़ा युद्ध चल रहा है, थोड़ा-सा ध्यान देने से ही वह समझ में आ जाता है! दु:ख-निवृत्ति हेतु कितनी बड़ी तैयारी चल रही है! इसका उद्देश्य क्या है, कहाँ से यह उत्पन्न हुआ है और इसका परिणाम क्या होगा, इसे कोई भी नहीं जानता।

किन्तु यह बड़ी विचित्र बात है, ठीक उस 'एक कौपीन के लिये' कहानी की तरह। इस दु:ख से मुक्ति-प्राप्ति के प्रयास का कौशल, निपुणता किसी को भी ज्ञात नहीं है। किसी प्रकार से थोड़ा-सा जानने का प्रयास करने पर भी सफल नहीं हुआ जा सकता। इसीलिये भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है – **'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।''**[६] इनमें से किसी एक के द्वारा सिद्धि-प्राप्त करने पर भी सम्पूर्ण रूप से मुक्ति-प्राप्त करने वाला ऐसा कोई दुर्लभ ही होता है।[७]

योगशास्त्र कहते हैं कि इस जीवन के समस्त कर्म ही एक यन्त्र, मशीन के कार्य के समान हैं। इस यन्त्र को सामने से हटाकर नहीं रखने से उसकी क्रियायें अनुभूत होंगी ही, और उसकी प्रतिक्रिया का निवारण सम्भव नहीं है। इसीलिये योगशास्त्र की प्रणाली से चित्त का निरोध कर क्रमशः इस कच्चे अहंकार को दूर करने से ही सारा झमेला, सारा प्रपंच मिट जायेगा। श्रीरामकृष्ण कहते थे, 'मैं मरा कि बला टली।' श्रीकृष्ण कहते थे – **''सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।''**[८] अर्थात् अपने स्वरूप को जान लेने पर दूसरा कोई कष्ट ही नहीं रहता है।

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्-धर्माणाम् ।।१२ ।।

– वस्तु के धर्म विभिन्न रूप धारण करते हैं, इसलिये उनके अतीत और भविष्य उनके स्वरूप में ही अप्रकाशित रूप से विद्यमान रहते हैं।

ते व्यक्त-सूक्ष्मा गुणात्मानः ।।१३ ।।

– वे सभी धर्म कभी व्यक्त अवस्था में और कभी सूक्ष्म अवस्था में रहते हैं एवं गुण ही उनकी आत्मा है, उनका स्वरूप है।

६. हजारों मनुष्यों में कोई एक आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु प्रयास करता है। (गीता - ७/३)

७. इस श्लोक के पूर्वार्ध अन्तिम चरण में भगवान अर्जुन को कहते हैं – 'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।'' (७/३)

८. सम्पूर्ण कर्म अग्निहोत्रादि यज्ञ एवं सम्पूर्ण श्रौत और स्मार्त यज्ञ-उपासनादि ब्रह्मज्ञान में समाप्त होते हैं। (गीता-४/३३)

परिणामैकत्वाद्वस्तु-तत्त्वम् ।।१४ ।।

– परिणाम में एकत्व देखा जाता है, क्योंकि वस्तु वास्तव में एक ही है।

व्याख्या – हमलोग काल, समय को तीन भागों में विभाजित करके देखते हैं। काल की गति में प्रकृति का जो परिवर्तन होता है, उसे देखकर 'कोई वस्तु अभी नहीं है' और 'कोई वस्तु भविष्य में होगी' – ऐसा हमलोग सोचते हैं। किन्तु **''नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः''** – जो वस्तु है, वह कैसे नहीं होगी; एवं जो वस्तु नहीं है, उसकी सत्ता कहाँ से होगी? इसलिये ज्ञानी समझते हैं, कोई वस्तु हमारे सामने नहीं रहने पर भी, वह कारण में विद्यामन है और जो वस्तु होगी वह भी, जो वस्तु है उसी में से उद्भूत होगी। किसी वस्तु के व्यक्त, प्रकट होते ही हम उसे वर्तमान में विद्यमान देखते हैं और अव्यक्त, प्रकट नहीं होने पर हम सोचते हैं कि वह नहीं है। समय के परिवर्तन के अनुसार वस्तु का जो परिवर्तन हम देखते हैं, वह हमारा भ्रम है। ज्ञानियों को यह भ्रम नहीं होता है, क्योंकि सत् और असत् वस्तु अपने प्रकृत, मूल स्वरूप को प्राप्त किये हुये है।''[९] वास्तव में एक के अतिरिक्त दूसरा नहीं है। एक त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही अनेकों रूपों में हमारे समक्ष प्रतिभासित होती रहती है।

वस्तुसाम्ये चित्त भेदात्-तयोर्विभक्तः पन्थाः ।।१५ ।।

– वस्तु के एक होने पर भी, चित्त भिन्न-भिन्न होने के कारण, विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। एक ही वस्तु के विषय में अनुभूति और वासना भिन्न-भिन्न होने के कारण मन और विषय भी भिन्न प्रकृति के होते हैं।

(न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् – यद्यपि 'पातंजल योगसूत्र' के मूल ग्रन्थ में किसी-किसी संस्करण में इस सूत्र का उल्लेख है, किन्तु स्वामीजी ने इसका उल्लेख नहीं किया है।)

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ।।१६ ।।

– चित्त में वस्तु के प्रतिबिम्ब पड़ने की अपेक्षा (निर्भरता) रहने के कारण वस्तु कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होती है।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः
पुरुषस्यापरिणामित्वात् ।।१७ ।।

– चित्त-वृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं, क्योंकि उस (चित्त) का स्वामी पुरुष अपरिणामी है।

९. गीता में इस भाव को भगवान श्रीकृष्ण ने ''ना सतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः'' इत्यादि श्लोक (२-१६) में कहा है।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामीजी के साथ दो-चार दिन

हरिपद मित्र

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया । उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

प्रिय पाठको, यदि आप मेरी स्मृतिकथा के कुछ पृष्ठ पढ़ना चाहते हों, तो सर्वप्रथम आपको यह जान लेना होगा कि श्रीमत् स्वामी विवेकानन्दजी से भेंट होने के पूर्व मेरी धर्म के विषय में क्या धारणा थी और मेरी विद्या-बुद्धि तथा स्वभाव कैसा था; अन्यथा आप उनके सत्संग तथा उनके साथ मेरे वार्तालाप आदि का महत्त्व नहीं समझ सकेंगे। जब से मैंने होश सँभाला, तब से हाई स्कूल पास करने तक मेरी धर्म के विषय में कोई धारणा नहीं थी, बल्कि चौथी कक्षा तक पहुँचते-पहुँचते और अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से मेरे मन में प्रचलित हिन्दू धर्म के प्रति घोर अनास्था पैदा हो गयी थी, यद्यपि मुझे मिशनरी स्कूल में नहीं पढ़ना पड़ा था। हाई स्कूल पास करने के बाद तो प्रचलित हिन्दू धर्म में मेरी जरा भी श्रद्धा नहीं रही। इसके बाद १९ से २५ वर्ष की आयु के दौरान कॉलेज में पढ़ते समय मैंने भौतिकी, रसायन, वनस्पति-विज्ञान तथा अन्य वैज्ञानिक विषयों का थोड़ा-बहुत अध्ययन किया और डार्विन, हक्सले, मिल, टिंडल, स्पेंसर आदि पाश्चात्य विद्वानों के विचार से थोड़ा-थोड़ा परिचित हुआ। इसका फल वही हुआ, जो अधकचरे ज्ञान का होता है, अर्थात् मैं पूरी तौर से नास्तिक हो गया। मुझे किसी चीज में श्रद्धा न रही और मैं ईश्वर की भक्ति के विषय में तो कुछ भी नहीं जानता था। मैं मन-ही-मन सभी धर्मों को निन्दा किया करता और सबको अपनी तुलना में निकृष्ट समझा करता।

इन दिनों ईसाई मिशनरियों ने मेरे पास प्राय: ही आना शुरू किया। ये लोग बड़ी बौद्धिक कुशलता के साथ अन्य धर्मों की निन्दा करते और युक्ति-तर्क के द्वारा समझाते कि धर्म के क्षेत्र में विश्वास के बिना कुछ न होगा। ईसाई धर्म में, सर्वप्रथम विश्वास से आरम्भ करना पड़ता है, तभी इसकी अपूर्वता तथा अन्य धर्मों की तुलना में इसकी उत्कृष्टता को समझा जा सकता है। परन्तु उन दिनों मैं ऐसा कट्टर नास्तिक था कि ऐसे विचित्र दृष्टिकोण तथा विद्वत्तापूर्ण बातों से मुझे प्रभावित नहीं किया जा सकता था। पाश्चात्य विद्या ने ही मुझे सिखाया था – 'बिना प्रमाण किसी भी बात पर विश्वास मत करो', जबकि मिशनरी लोग कहते – 'पहले विश्वास और तब प्रमाण।'' परन्तु मेरा मन भला कैसे मान लेता? फिर वे यह भी कहते – ''पहले मनोयोग के साथ बाइबिल पढ़ो, उसके बाद विश्वास आ जायेगा।'' मैंने इस सलाह को अपनाया और संयोगवश फादर रिबिंग्टन, रेवरेंड लेट्वार्ड, गोरे तथा बोमेंट आदि अनेक विद्वान्, नि:स्पृह तथा सच्चे भक्त मिशनरियों से भी मेरी भेंट हुई, तो भी विश्वास मुझसे कोसों दूर रहा। उनमें से कुछ ने मुझसे कहा – ''तुम्हारी काफी उन्नति हुई है और ईसाई धर्म में तुम्हारा विश्वास भी हो गया है, परन्तु तुम जाति खोने के भय से ईसाई नहीं हो रहे हो।'' इन सबका फल यह हुआ कि मुझे अपने सन्देह पर भी सन्देह होने लगा। उन लोगों ने कहा कि इस गतिरोध को दूर करने के लिये वे लोग मेरे दस प्रश्नों के उत्तर देंगे और हर प्रश्न के समुचित समाधान के बाद मेरे हस्ताक्षर लेंगे। जब दसवें प्रश्न के उत्तर पर मेरा हस्ताक्षर हो जायेगा, तब मुझे हार स्वीकार कर लेनी होगी और ईसाई धर्म अपना लेना होगा। परन्तु तीसरे प्रश्न का समाधान होते-होते ही मैं कॉलेज छोड़कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर चुका था। इसके बाद भी मैं सभी धर्मग्रन्थों का अध्ययन करता रहा और चर्चों, मन्दिरों तथा ब्राह्म-मन्दिरों में जाता रहा। परन्तु मैं यह नहीं समझ सका कि कौन-सा धर्म सत्य है और कौन-सा असत्य, कौन-सा धर्म अच्छा है और कौन-सा बुरा। आखिरकार मेरी ऐसी धारणा हुई कि परलोक या आत्मा के विषय में कोई भी यह नहीं जानता कि परलोक है या नहीं और आत्मा मरणशील है या अमर। तथापि किसी भी धर्म में दृढ़ विश्वास हो, तो इस जीवन में थोड़ी सुख-शान्ति रहती है और यह विश्वास मनुष्य में अभ्यास से ही आता है। किसी में भी क्षमता नहीं है कि वह तर्क, विचार या बुद्धि के द्वारा धर्म की सत्यता या असत्यता सिद्ध कर सके।

भाग्य अनुकूल था। अच्छे वेतनवाली नौकरी भी मिली।

अब मुझे रुपये-पैसों की कमी न थी, लोगों में सम्मान भी था – एक सामान्य व्यक्ति को सुखी होने के लिये जिन चीजों की आवश्यकता होती है, उनका मुझे कोई अभाव न था। परन्तु इन सबके बावजूद मेरे मन में सुख-शान्ति का उदय नहीं हुआ और यही एक अभाव मेरे मन को हमेशा सालता रहता था। इसी प्रकार दिन-पर-दिन और वर्ष-पर-वर्ष बीतते गये।

बेलगाँव – १८ अक्तूबर, १८९२ ई., मंगलवार। संध्या हुए लगभग दो घण्टे हुए हैं। एक स्थूलकाय प्रसन्नमुख युवा संन्यासी मेरे एक परिचित महाराष्ट्रीय वकील के साथ मेरे घर पर पधारे। मेरे वकील मित्र ने कहा, "ये एक विद्वान् बंगाली संन्यासी हैं, आपसे मिलने आये हैं।" मुड़कर देखा – प्रशान्त मूर्ति, नेत्रों से मानो विद्युत्प्रकाश निकल रहा हो, दाढ़ी-मूँछें मुड़ी हुई, शरीर पर गेरुआ अँगरखा, पैर में मरहठी चप्पल, सिर पर गेरुआ पगड़ी। संन्यासी की उस भव्य मूर्ति का स्मरण होने पर अब भी मानो उन्हें अपनी आँखों के समक्ष देखता हूँ। देखकर आनन्द हुआ और मैं उनकी ओर आकृष्ट भी हुआ। ... उस समय तक मेरा विश्वास था कि सभी गेरुआ वस्त्रधारी संन्यासी पाखण्डी ही होते हैं। सोचा, ये भी कुछ आशा लेकर मेरे पास आये हैं। फिर वकील बाबू हैं महाराष्ट्रीय ब्राह्मण और ये ठहरे बंगाली! बंगालियों का महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के साथ मेल होना कठिन है; इसीलिए लगता है ये मेरे घर में रहने को आये हैं।

मन में इस प्रकार अनेक संकल्प-विकल्प करके उन्हें अपने यहाँ ठहरने के लिए कहा और पूछा, "आपका सामान अपने यहाँ मँगवा लूँ?" उन्होंने कहा, "मैं वकील बाबू के यहाँ अच्छी तरह हूँ। और बंगाली देखकर यदि मैं उनके यहाँ से चला आऊँ, तो उनके मन में दु:ख होगा, क्योंकि ये लोग बड़ी भक्ति और स्नेह करते हैं; अत: ठहरने-ठहराने के विषय में पीछे विचार किया जायेगा।" उस रात कोई अधिक बातचीत न हो सकी; किन्तु उन्होंने जो भी दो-चार बातें कहीं, उसी से भलीभाँति समझ में आ गया कि वे मेरी अपेक्षा हजार गुने अधिक विद्वान् तथा बुद्धिमान हैं; इच्छा मात्र से ही वे काफी धन उपार्जन कर सकते हैं, तथापि रुपये-पैसे छूते तक नहीं और सुखी होने के सब साधनों के न होते हुए भी मेरी अपेक्षा हजार गुना सुखी हैं। यह भी पता चला कि उनके मन में किसी स्वार्थसिद्धि की इच्छा नहीं है।

मेरे यहाँ नहीं रहेंगे – यह जानकर मैंने फिर कहा, "यदि चाय पीने में कोई आपत्ति न हो, तो कल सुबह मेरे साथ चाय पीजिए; मुझे बड़ी खुशी होगी।" उन्होंने स्वीकृति दी और वकील बाबू के साथ उनके घर लौट गये। रात में बड़ी देर तक उनके विषय में सोचता रहा, मन में आया – ऐसा नि:सृह, चिरसुखी, सदा सन्तुष्ट, प्रफुल्ल-मुख व्यक्ति तो कभी देखा नहीं! मैं सोचा करता था कि जिसके पास धन नहीं है, उसका मर जाना ही अच्छा है; और जगत् में सच्चे निष्काम संन्यासी का होना एक असम्भव बात है। परन्तु अब इतने दिनों बाद सन्देह ने आकर उस विश्वास को हिला दिया।

अगले दिन (१९ अक्तूबर को) प्रात:काल ६ बजे उठकर स्वामीजी की प्रतीक्षा करने लगा। देखते-ही-देखते आठ बज गये, किन्तु स्वामीजी दिखाई नहीं पड़े। आखिरकार अधीर होकर मैं अपने एक मित्र के साथ उनके निवास-स्थान की ओर चल पड़ा। वहाँ जाकर देखा तो एक महासभा जुटी हुई है। स्वामीजी और उनके समीप अनेक प्रतिष्ठित वकील तथा विद्वान् लोग बैठे हैं, बातचीत हो रही है। स्वामीजी किसी को अंग्रेजी में, किसी को संस्कृत में और किसी को हिन्दी में, उनके प्रश्नों का तत्काल उत्तर दे रहे हैं। मेरे समान कोई कोई हक्सले के दर्शन को प्रामाणिक मानकर स्वामीजी के साथ तर्क करने को उद्यत हैं। परन्तु वे किसी को हँसी में, किसी को गम्भीर भाव से यथोचित उत्तर देकर सबको चुप किये दे रहे हैं। मैंने जाकर प्रणाम किया, एक ओर बैठ गया और अवाक् होकर सुनने लगा। सोचने लगा – ये मनुष्य हैं या कोई देवता? इसीलिये उनकी सारी बातें स्मृति में नहीं रह सकीं। जो कुछ याद है, उसमें से कुछ इस प्रकार है –

एक प्रतिष्ठित वकील ने पूछा, "स्वामीजी, संध्या आह्निक आदि कृत्यों के मंत्र संस्कृत में हैं, हम उन्हें समझ नहीं पाते। हमारे द्वारा इन मंत्रों की आवृत्ति का भी क्या कुछ फल है?" स्वामीजी बोले, "अवश्य, उत्तम फल है। ब्राह्मण की सन्तान होने के नाते इच्छा हो तो आप इन संस्कृत मंत्रों का अर्थ सहज ही समझ सकते हैं। फिर भी समझने का प्रयास नहीं करते, तो इसमें भला किसका दोष है! और यद्यपि आप मंत्रों का अर्थ नहीं समझते, तो भी जब आप संध्या-वन्दना आदि आह्निक कृत्य करने बैठते हैं, उस समय क्या सोचते हैं – धर्म-कर्म कर रहा हूँ, या फिर यह कि कोई पाप कर रहा हूँ? यदि आप धार्मिक कृत्य समझकर संध्या-वन्दन करते हों, तो उत्तम फल पाने के लिए इतना ही यथेष्ट है।"

तभी एक व्यक्ति संस्कृत में बोले, "धर्म-विषयक चर्चा म्लेच्छ भाषा में करना उचित नहीं; अमुक पुराण में ऐसा लिखा है।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "किसी भी भाषा के माध्यम से धर्मचर्चा की जा सकती है।" और अपने इस वाक्य के समर्थन में उन्होंने वेदों से प्रमाण देते हुए कहा, "हाईकोर्ट के फैसले को छोटी अदालत काट नहीं सकती।"

इस प्रकार नौ बज गये। जिन लोगों को दफ्तर या कचहरी जाना था, वे सब चले गये। कोई-कोई उस समय भी बैठे रहे। मेरे ऊपर दृष्टि पड़ते ही स्वामीजी को पिछले दिवस की चाय पीने जाने की बात याद आ गयी। वे बोले, "भाई, इतने लोगों का मन दुखाकर नहीं जा सकता था। कुछ बुरा मत मानना।" बाद में मैंने उनसे अपने निवास-

स्थान पर रहने के लिए विशेष अनुरोध किया। इस पर वे बोले, "मैं जिनका अतिथि हूँ, उन्हें यदि मना लो, तो मैं तुम्हारे ही पास रहने को तैयार हूँ।" वकील महाशय को समझा-बुझाकर राजी करने के बाद स्वामीजी को साथ लिए मैं अपने घर आया। उनके साथ एक कमण्डलु और गेरुए वस्त्र में लिपटी हुई पुस्तक – बस इतना ही समान था। स्वामीजी उन दिनों फ्रांसीसी संगीत के विषय में एक पुस्तक का अध्ययन कर रहे थे। घर आकर लगभग दस बजे चायपान हुआ; इसके बाद स्वामीजी ने एक गिलास ठण्डा जल भी मँगवाकर पीया। यह देखकर कि मुझे अपने मन की कठिन समस्याओं के बारे में पूछने का साहस नहीं हो रहा है, उन्होंने स्वयं ही मुझसे दो-चार बातें कीं, और उसी से मेरी विद्या-बुद्धि को नाप लिया। ...

कुछ समय पूर्व किसी ने 'टाइम्स' अखबार में एक सुन्दर कविता लिखी थी, जिसका भाव यह था कि 'ईश्वर क्या है और कौन-सा धर्म सत्य है, आदि समझना अत्यन्त कठिन है। उस कविता के भाव तथा मेरी धर्म-विषयक धारणा में साम्य होने के कारण मैंने उसे सँभालकर रख लिया था। वही मैंने उन्हें पढ़ने को दिया। पढ़कर वे बोले, "यह आदमी भ्रमित हो गया है।" क्रमश: मेरा साहस भी बढ़ रहा था।

"ईश्वर एक साथ ही न्यायवान और दयामय कैसे हो सकता है?" – इस प्रश्न की मीमांसा ईसाई मिशनरियों से नहीं हो सकी थी। सोचा कि इस समस्या को स्वामीजी भी नहीं सुलझा सकते। मैंने यह प्रश्न स्वामीजी के सामने रखा। वे बोले, "तुमने तो विज्ञान का काफी अध्ययन किया है। क्या प्रत्येक जड़ पदार्थ में केन्द्रप्रसारी (centrifugal) तथा केन्द्रगामी (centripetal) – ये दो विपरीत शक्तियाँ कार्य नहीं करती ! यदि दो विरुद्ध शक्तियों का जड़ पदार्थ में रहना सम्भव है, तो दया और न्याय आपस में विरुद्ध होते भी क्या ईश्वर में नहीं रह सकते? मैं इतना ही कह सकता हूँ कि अपने ईश्वर के सम्बन्ध में तुम्हारा ज्ञान नहीं के बराबर है।" सुनकर मैं तो दंग रह गया।

मैंने फिर कहा, "मुझे पूर्ण विश्वास है कि Truth is absolute (सत्य निरपेक्ष है)। सभी धर्म एक साथ ही सत्य नहीं हो सकते।" इन प्रश्नों के उत्तर में वे बोले, "हम लोग धर्म के विषय में जो कुछ भी जानते हैं, जा भविष्य में जानेंगे, वह सब सापेक्ष सत्य (relative truths) है – हमारी सीमित मन-बुद्धि के द्वारा निरपेक्ष सत्य (absolute truth) की धारणा असम्भव है। अत: सत्य निरपेक्ष होता हुआ भी भिन्न-भिन्न मन-बुद्धियों के माध्यम से विभिन्न रूपों में प्रकट होता रहता है। सत्य के ये सभी रूप या भाव नित्य सत्य (absolute truth) का आधार लेकर ही प्रकट होते हैं, अत: ये सभी एक ही प्रकार या श्रेणी के हैं। वैसे ही जैसे कि एक ही सूर्य के दूर तथा निकट से फोटोग्राफ लेने पर वह विभिन्न रूपों में दिखाई देता है और लगता है कि प्रत्येक चित्र एक भिन्न सूर्य का है। सभी सापेक्ष (relative) सत्य निरपेक्ष (absolute) सत्य के साथ इसी रीति से सम्बद्ध हैं। प्रत्येक धर्म उस निरपेक्ष सत्य का आभास होने के कारण सत्य है।

जब मैंने कहा कि 'विश्वास ही धर्म का मूल है', तो स्वामीजी ने हल्की मुसकान के साथ कहा, "राजा हो जाने पर खाने-पीने का कष्ट नहीं रह जाता, परन्तु राजा होना ही तो कठिन है। विश्वास क्या कभी बलपूर्वक लाया जा सकता है? अनुभव हुए बिना ठीक-ठीक विश्वास असम्भव है।"

किसी प्रसंग में उन्हें 'साधु' कहने पर वे बोले, "हम लोग भी क्या साधु हैं? ऐसे अनेक साधु हैं, जिनके दर्शन या स्पर्श मात्र से ही दिव्य ज्ञान का उदय हो जाता है।"

"संन्यासी इस प्रकार आलसी होकर समय क्यों बिताते हैं? दूसरों की सहायता के ऊपर क्यों निर्भर रहते हैं और समाज के लिए कोई हितकर काम क्यों नहीं करते?"

इन प्रश्नों के उतर में स्वामीजी बोले, "अच्छा बताओ तो, तुम इतने कष्ट से अर्थोपार्जन कर रहे हो ! उसका बहुत थोड़ा-सा अंश केवल अपने लिए व्यय करते हो; शेष में से कुछ अंश दूसरों के लिए, जिन्हें तुम अपना समझते हो, व्यय करते हो। वे लोग उसके लिए न तो तुम्हारा उपकार ही मानते हैं और न उनके लिए जितना व्यय करते हो, उससे सन्तुष्ट ही होते हैं। जो रकम तुम कौड़ी कौड़ी जोड़े जा रहे हो, तुम्हारे मर जाने पर उसका भोग कोई दूसरा ही करेगा और यह भी सम्भव है कि वह यह कहकर गाली भी दे कि तुम अधिक रुपये नहीं छोड़ गये। ऐसा तो गया-गुजरा तुम्हारा हाल है। और मैं तो वैसा कुछ भी नहीं करता। भूख लगने से पेट पर हाथ रखकर, हाथ को मुँह के पास ले जाकर दिखला देता हूँ; जो पाता हूँ, खा लेता हूँ; कुछ भी कष्ट नहीं उठाता, कुछ भी संग्रह नहीं करता। हम दोनों में कौन बुद्धिमान है? – तुम या मैं !" सुनकर मैं तो अवाक् रह गया, क्योंकि इसके पूर्व कभी किसी ने मेरे समक्ष इतने स्पष्ट रूप से बोलने का साहस नहीं किया था।

भोजन के बाद थोड़ा विश्राम करके मैं पुन: उन वकील मित्र के घर गया। वहाँ तरह-तरह की बातें तथा तर्क-वितर्क चल रहे थे। रात के करीब नौ बजे मैं स्वामीजी को साथ लेकर अपने आवास की ओर चला। रास्ते में मैंने कहा, "स्वामीजी, आज आपको तर्क-वितर्क में बड़ा कष्ट हुआ।"

वे बोले, "बच्चा, तुम लोग तो उपयोगितावादी हो। यदि मैं चुपचाप बैठा रहूँ, तो क्या तुम लोग मुझे एक मुट्ठी खाने को भी दोगे? मैं इस प्रकार निरन्तर बोलता हूँ, लोगों को सुनकर आनन्द होता है, इसीलिये दल-के-दल आते हैं।

परन्तु यह जान लेना कि सभा में जो लोग तर्क-वितर्क करते हैं या प्रश्न पूछते हैं, वे लोग सचमुच ही सत्य जानने की इच्छा से वैसा नहीं करते। मैं भी समझ लेता हूँ कि कौन किस भाव से बोल रहा है और उसे वैसा ही उत्तर देता हूँ।''

मैंने पूछा, ''अच्छा स्वामीजी, सभी प्रश्नों के इस प्रकार सटीक उत्तर आप तत्काल किस प्रकार दे लेते हैं?''

वे बोले, ''ये सब प्रश्न तुम्हारे लिए नवीन हैं; पर मुझसे तो कितने ही लोग कितने ही बार ये प्रश्न पूछ चुके हैं और मैं कितनी ही बार इनके उत्तर दे चुका हूँ।''

रात में भोजन के समय उन्होंने और भी अनेक बातें कहीं, पैसा न छूते हुए देश-भ्रमण करते समय कहाँ कैसी-कैसी घटनाएँ हुई, उन सबका वर्णन करने लगे। सुनते-सुनते मन में आया – ''अहा ! इन्होंने न जाने कितना कष्ट, कितनी विपत्तियाँ सही हैं। परन्तु वे तो उन घटनाओं को इस प्रकार हँस-हँसकर सुना रहे थे, मानो वे बड़ी मनोरंजक कथाएँ हों। कहीं पर उनको तीन दिन तक बिना कुछ खाये रहना, किसी स्थान पर मिर्च खाने के कारण पेट में ऐसी जलन होना, जो एक कटोरी इमली का पानी पीने पर भी शान्त नहीं हुई; कहीं 'यहाँ साधु-संन्यासियों को जगह नहीं है' – कहकर झिड़कियाँ खाना; और कहीं खुफिया पुलिस की कड़ी नजर में रहना – आदि घटनाएँ, जिन्हें सुनकर हमारे शरीर का खून पानी हो जाय, उनके लिए तो मानो एक तमाशा थीं।

रात अधिक हुई देखकर उनके लिए सोने का प्रबन्ध करने के बाद मैं भी सोने को चला गया; पर रात में नींद नहीं आई। सोचने लगा – कैसा आश्चर्य, इतने वर्षों की दृढ़ शंकाएँ तथा अविश्वास स्वामीजी को देखकर और उनकी दो-चार बातें सुनकर ही दूर हो गए ! अब पूछने को कुछ भी नहीं बचा था। फिर ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे, केवल हम लोगों का ही नहीं, बल्कि हमारे नौकर-चाकरों की भी उनके प्रति इतनी श्रद्धा-भक्ति हो गयी कि उनकी सेवा तथा आग्रह से कभी-कभी स्वामीजी परेशान तक हो उठते।

२० अक्तूबर, १८९२ ई.। सबेरे उठकर मैंने स्वामीजी को प्रणाम किया। अब मेरा साहस और साथ ही श्रद्धा-भक्ति भी बढ़ गयी थी। मुझसे अनेक वन, नदियों, जंगल आदि की बातें सुनकर स्वामीजी भी सन्तुष्ट हुए हैं। इस नगर में आज उनका चौथा दिन है। पाँचवें दिन उन्होंने कहा, ''संन्यासियों को नगर में तीन दिन और गाँव में एक दिन से अधिक ठहरना उचित नहीं। मैं अब जल्दी चला जाना चाहता हूँ। परन्तु बिना तर्क के द्वारा समझाये, मैं उनकी वह बात मानने को जरा भी राजी न था। काफी वाद-विवाद के बाद वे बोले, ''एक स्थान में अधिक दिन रहने पर माया-ममता बढ़ जाती है। हम लोगों ने घर और सगे-सम्बन्धियों का परित्याग किया है, अत: जिन बातों से उस प्रकार की माया में मुग्ध होने की सम्भावना हो, उनसे दूर रहना ही हम लोगों के लिए अच्छा है।'' मैंने कहा, ''आप कभी भी मुग्ध होनेवाले नहीं हैं।'' उन्होंने मेरा अतिशय आग्रह देख आखिरकार और भी दो चार दिन ठहरना स्वीकार कर लिया।

इस बीच मेरे मन में आया कि यदि स्वामीजी सार्वजनिक व्याख्यान दें, तो हम लोग भी उसे सुनेंगे और दूसरों का भी कल्याण होगा। मैंने इसके लिए बहुत अनुरोध किया, परन्तु व्याख्यान देने पर शायद नाम-यश की स्पृहा जग उठे, ऐसा कहकर उन्होंने यह भी बात मुझे बतायी कि उन्हें सभा में प्रश्नों का उत्तर देने में कोई आपत्ति नहीं है।

एक दिन बातचीत के दौरान स्वामीजी चार्ल्स डिकेंस द्वारा लिखित 'पिकविक पेपर्स' ग्रन्थ के दो-तीन पृष्ठ अनायास बोल गये। मैंने उस ग्रन्थ को कई बार पढ़ा था, समझ गया कि उन्होंने किस स्थान से उद्धृत किया है। सुनकर मुझे अति आश्चर्य हुआ। मैंने सोचा कि संन्यासी होकर भी इन्होंने इस सामाजिक ग्रन्थ का इतना भाग कैसे कण्ठस्थ कर लिया है? लगता है कि इन्होंने इस ग्रन्थ को पहले अनेक बार पढ़ा है। पूछने पर वे बोले, ''दो बार पढ़ा है – एक बार स्कूल में पढ़ते समय और पाँच-छह महीने पहले एक बार और पढ़ा है।'' मैंने अवाक् होकर पूछा, ''तो आपको कैसे याद रह गया? और हम लोगों को क्यों नहीं रहता?''

स्वामीजी ने उत्तर दिया, ''एकाग्र चित्त से पढ़ना चाहिये; और भोजन के सार-भाग द्वारा निर्मित वीर्य की रक्षा करके उसका अधिकाधिक भाग आत्मसात् कर लेना चाहिये।''

एक अन्य दिन की बात है। स्वामीजी दोपहर में बिछौने पर लेटे हुए एक पुस्तक पढ़ रहे थे। मैं दूसरे कमरे में था। सहसा स्वामीजी इतने जोर से हँस पड़े कि क्या हो गया – सोचकर मैं उनके कमरे के दरवाजे के पास जाकर खड़ा हो गया। देखा, बात कोई खास नहीं है। वे जैसे पुस्तक पढ़ रहे थे, वैसे ही पढ़ रहे हैं। लगभग पन्द्रह मिनट खड़ा रहा, तो भी उनका ध्यान मेरी ओर नहीं गया। पुस्तक के अतिरिक्त उनका ध्यान किसी दूसरी ओर नहीं था। कुछ देर बाद मुझे देखकर उन्होंने अन्दर आने के लिए कहा और मैं इतनी देर खड़ा हूँ सुनकर वे बोले, ''**जब जो काम करना हो, उसे पूरी लगन और शक्ति के साथ करना चाहिए।** गाजीपुर के पवहारी बाबा ध्यान, जप, पूजा-पाठ जिस प्रकार एकाग्र चित्त से करते थे, उसी प्रकार वे अपने पीतल के लोटे को भी एकाग्रचित्त से माँजते थे। ऐसा माँजते थे कि सोने के समान चमकने लगता था।''

❖ **(क्रमशः)** ❖

ज्योतिर्मय जनार्दन

समीक्षक – स्वामी प्रपत्त्यानन्द

लेखक - डॉ. रमेशचन्द्र यादव 'कृष्ण'
प्रकाशक - श्रीकृष्ण प्रकाशन, एच - १२८, कृष्णपुरी, लाइनपार, मुरादाबाद, (उ.प्र.)
फोन - ९१२७३-७६८७७
पृष्ठ - ९९२, साइज - १८/७५ से.मी.
मूल्य - ११००/- रु.

अभिनव भारत के भविष्यद्रष्टा स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा था – "राष्ट्र को जगाने के लिये, उसे पुन: जगद्गुरु के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिये आवश्यकता है गीता के सिंहनादकारी, चक्रधर पांचजन्यधारी भगवान श्रीकृष्ण के गीतोक्त सन्देश – 'क्लैब्यं मा स्म गम: पार्थ', 'तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशोलभस्य' – को आचरण में लाने की।" (पृष्ठ-५६४)

'कृष्णस्तु भगवान स्वयं' – श्रीकृष्ण स्वयं भगवान हैं। वे सोलह कलाओं से पूर्ण एवं सर्वांगीण व्यक्तित्व-सम्पन्न पुरुष हैं। सोलह कला की व्याख्या करते हुये श्री वासुदेव शरण अग्रवाल जी अपने भारत-सावित्री नामक ग्रन्थ (भाग-३, पृष्ठ-२६०) में लिखते हैं – "कृष्ण को हमारे देश के जीवन-चरित्र-लेखकों ने 'सोलह कला का अवतार' कहा है। इसका तात्पर्य क्या है? यह स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को नापने के लिये भिन्न परिणामों का प्रयोग किया जाता है। दूरी को नापने के लिये और नाप है, काल के लिये और है तथा बोझ के लिये और है। इसी प्रकार मानवी पूर्णता को प्रकट करने के लिये कला ही नाप है। सोलह कलाओं से चन्द्रमा का स्वरूप संपूर्ण होता है। मानवी आत्मा का पूर्णतम विकास भी सोलहों कलाओं के द्वारा प्रकट होता है। कृष्ण में सोलहों कलाओं की अभिव्यक्ति थी अर्थात् मनुष्य का मस्तिष्क मानवी विकास का जो पूर्णतम आदर्श बन सकता है, वह हमें कृष्ण में मिलता है। नृत्य, गीत, वादित्र, सौन्दर्य, वाग्मिता, राजनीति, योग, अध्यात्म, ज्ञान, सबका एकत्र समवाय कृष्ण में पाया जाता है। गो-दोहन से लेकर राजसूय यज्ञ में ब्राह्मणों के चरण धोने तक तथा सुदामा की मैत्री से लेकर युद्धभूमि में गीता के उपदेश तक उनकी ऊँचाई का एक पैमाना है, जिस पर सूर्य की किरणों की रंग-बिरंगी पेटी (स्पैक्ट्रेम) की तरह हमें आत्मिक विकास के हर एक स्वरूप का दर्शन होता।" (पृष्ठ ८७०-८७१)

इस प्रकार हम श्रीकृष्ण को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप में पाते हैं। वे हमारी सभी समस्याओं के समाधान हैं। प्रत्येक विकास के मापदण्ड हैं। हर सम्भावना के साकार रूप हैं। हर विचार के आदर्श एवं पथ-प्रदर्शक हैं। मानवीय सम्बन्धों – गुरु-सखा, पिता-पुत्र, बन्धु-मित्र, सम्बन्धि-परिजन आदि के महानतम आदर्श हैं।

श्रीकृष्ण के इन्हीं सर्वांगीण व्यक्तित्व की सार्वजनिन अभिव्यक्ति देने का भगीरथ प्रयास डॉ. रमेशचन्द्र यादव 'कृष्ण' जी ने अपने महान् ग्रन्थ 'ज्योतिर्मय जनार्दन' में किया है। यह ग्रन्थ १८/७५ से.मी. के कलेवर में ९९२ पृष्ठों का है। यह ग्रन्थ पाँच भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में २० अध्याय हैं, जिनमें विभिन्न धर्मों एवं अवतार-पुरुषों आदि पर २१ लेख हैं। इस अध्याय का श्रीगणेश युगनायक स्वामी विवेकानन्द जी के विख्यात शिकागो भाषण से आरम्भ हुआ है। लेखक स्वयं इस ग्रन्थ के लेखकीय निवेदन (पृष्ठ-१४) में स्वामीजी के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुये लिखते हैं – "मेरे चिन्तन, लेखन, व्याख्यान पर सर्वाधिक प्रभाव स्वामी विवेकानन्द का है। मैं उन्हें आज तक के प्रखर वक्ताओं में सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ। अपने धर्म की रक्षा के लिये स्वामीजी के अन्दर एक विद्वान् दार्शनिक के साथ-साथ एक योद्धा व्यक्ति के भी दर्शन किये जा सकते हैं।"

इस अध्याय का समापन 'भगवद्गीता राष्ट्रीय विरासत है', इसकी संवैधानिक पुष्टि से होती है। इस भाग में ही गीतानायक श्रीकृष्ण की पृष्ठ भूमि बनती है।

ग्रन्थ का द्वितीय भाग–पुष्पांजलि श्रीकृष्ण के चरित्र एवं कृतित्व को समर्पित है। १४ अध्यायों में विभक्त इस अध्याय में १४ निबन्ध हैं। पहला 'निबन्ध सर्वकाल की सर्वश्रेष्ठ विभूति योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं। लेखक ने विभिन्न लेखकों और शास्त्रों के विचार उद्धृत कर लेख को गरिमामय बना दिया है। मुख्यरूप से तो यह पुस्तक एक महा शोध-प्रबन्ध है। श्रीकृष्ण सार्वभौमिक, सार्वकालिक तथा सदा प्रासंगिक हैं, इसका उत्तम प्रमाणयुक्त प्रतिपादन है। इसमें राजा का प्रजा के प्रति कर्त्तव्य का बहुत विस्तृत उल्लेख मिलता है। वाल्मीकी रामायण में श्रीरामजी सीताजी से कहते हैं, – "क्षत्रिय लोग इसलिये धनुष धारण करते हैं कि राष्ट्र में आर्त (दुख) शब्द सुनाई न पड़े – "क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्त शब्दो भवेदिति।" अगला लेख 'वृष्णि गणराज्य के मुद्रांक और श्रीकृष्ण सम्बन्धी ऐतिहासिक तालिका' की है। उसके बाद हस्तिनापुर की राज्यसभा में श्रीकृष्ण के द्वारा दिखाये गये विश्वरूप का उल्लेख है, जो राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर जी की 'रश्मिरथि' नामक पुस्तक से उद्धृत है। भगवान की ओजस्वी वाणी का अनूठा प्रसंग है। इस भाग में श्रीकृष्ण द्वारा किये गये अनेकों कार्यों और दर्शाये गये प्रेम तथा उनके व्यक्तित्व के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डाला गया है। श्रीकृष्ण पर लिखित विभिन्न कवियों के गीतों का उल्लेख है।

ग्रन्थ के तृतीय भाग में पाँच अध्याय और ६ लेख हैं। प्रथम अध्याय में हिन्दू धर्म का महान् ग्रन्थ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता पर निबन्ध है। जिसमें बाल गंगाधर तिलक, वासुदेवशरण अग्रवाल और परमानन्द जी के महत्त्वपूर्ण उद्धरण हैं। भगवान श्रीकृष्ण की अनुपम कृत्ति गीता के ज्ञान-भक्ति-कर्म के सान्दर्भिक श्लोकों का उल्लेख है – 'मन्मनाभवमद्‌भक्तो' 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' आदि। 'गीता में सर्वोच्च सत्ता निरूपण', निष्काम कर्म आदि लेख श्रीकृष्ण के दिव्य जीवन-दर्शन को अभिव्यक्त करते हैं। 'भगवद्‌गीता और लोक-संग्रह' नामक लेख में लेखक की मधुकर वृत्ति को देखते ही बनता है। उन्होंने अनेकों महान् पुरुषों की रचना-पुष्प-वाटिका से सद्‌विचार-मधु संकलित कर जन-मानस के आस्वादनार्थ प्रस्तुत किया है। राजा भर्तृहरि कहते हैं, कि परार्थ ही जिसका स्वार्थ है, वही पुरुष साधुओं में श्रेष्ठ है – "स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेक: सतामग्रणी: ।" राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी ने गीता के श्लोक का भावानुवाद किया है, जो सहज बोधगम्य और मानव-सेवा का प्रेरक है –

वास उसी में है विभुवर का, बस सच्चा साधु वही,
जिसने दुखियों को अपनाया, बढ़कर उनकी बाँह गही।
आत्मस्थिति जानी उसने ही, परहित जिसने व्यथा सही,
परहितार्थ जिनका वैभव है, है उनसे ही धन्य मही ।।

इस अध्याय में भगवद्‌गीता के प्रमुख भाष्यकारों जैसे आचार्य शंकर, आचार्य रामानुज, मध्वाचार्य, मधुसूदन सरस्वती और बल्लभाचार्य जी का उल्लेख है।

अध्याय दो में गीता के उदात्त सिद्धान्त एवं उसमें ईश्वर के स्वरूप का वर्णन है। इस प्रबन्ध में अनेकों प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को उद्धृत किया गया है। कुछ आकर्षक उपशिर्षक हैं, जो प्रबन्ध पढ़ने को विवश कर देते हैं, जैसे – 'गीतोपदेश : 'पौरुष का उद्दाम सागर', 'स्वधर्म पालन में मृत्यु भी अभिनन्दनीय', 'गीता को वाग्जाल और स्वर्गादि का लालच पसन्द नहीं', 'धर्म की आड़ में अधर्म' 'विश्वबन्धुत्व और भारत', 'आत्मकल्याण और लोककल्याण' तथा यजुर्वेद का काव्यमय अनुवाद है –

शान्ति कीजिये प्रभु जीवन में ।
जल में थल में और गगन में,
अन्तरिक्ष में अग्नि पवन में ।
औषधि वनस्पति वन-उपवन में,
सकल विश्व में जड़-चेतन में ।।
शान्ति कीजिये प्रभु जीवन में । (पृ-५९७)

अध्याय तीन में महाभारत ग्रन्थ में वर्णित धर्मराज युद्धिष्ठिर का निष्काम ईश-प्रेम का दृष्टान्त बड़ा ही मार्मिक है, जिसे उल्लेख करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। इस घटना से एक सच्चे भक्त को अपने स्वामी से कैसे प्रेम करना चाहिये इसकी प्रेरणा मिलती है –

धर्मराज युधिष्ठिर का निष्काम ईश-प्रेम :
देवी द्रौपदी की विधाता को उलाहना

देवी द्रौपदी अपने ऊपर आये हुये कष्टों को देखकर विचलित हो जाती हैं और वे वन में कष्ट भोगते हुये युधिष्ठिर से कहती हैं – "मैंने आर्यों के मुख से सुना है कि यदि धर्म की रक्षा की जाय, तो वह धर्मरक्षक राजा की स्वयं भी रक्षा करता है। किन्तु मुझे पता है कि वह आपकी रक्षा नहीं कर रहा है" –

राजानं धर्मगोप्तारं धर्मो रक्षति रक्षितः ।
इति मे श्रुतमार्याणां त्वां तु मन्ये न रक्षति ।।
(म.भा वनपर्व ३०/८)

राजन ! मैं समझती हूँ कि ईश्वर समस्त प्राणियों के प्रति माता-पिता के समान दया एवं स्नेहयुक्त व्यवहार नहीं कर रहे हैं। वे तो दूसरे लोगों की भाँति मानो रोष से ही व्यवहार कर रहे हैं –

न मातृपितृवद राजन् धाता भूतेषु वर्तते ।
रोषादिव प्रवृत्तोऽयं यथायमितरो जनः ।। वन. ३०/३८

जो लोग श्रेष्ठ, शीलवान् और संकोची हैं, वे तो जीविका के लिये कष्ट पा रहे हैं, किन्तु जो अनार्य (दुष्ट) हैं, वे सुख भोगते हैं, यह सब देखकर मेरी उक्त धारणा पुष्ट होती है और मैं चिन्ता से विह्वल सी हो रही हूँ –

आर्याञ्छीलवतो दृष्ट्वा ह्रीमतो वृत्तिकर्शितान् ।
अनार्यान् सुखिनश्चैव विह्वलामीव चिन्तया।। वन.३०/३८

कुन्तीनन्दन (युधिष्ठिर)! आपकी इस आपत्ति को तथा दुर्योधन की समृद्धि को देखकर मैं उस विधाता की निन्दा करती हूँ, जो विषम दृष्टि से देख रहा है। अर्थात् सज्जन को दु:ख और दुर्जन को सुख देकर उचित विचार नहीं कर रहा है –

तवेमामापदं दृष्ट्वा समृद्धिं च सुयोधने ।
धातारं गर्हये पार्थ विषमं योऽनुपश्यति ।। वन. ३०/४०

धर्मराज युधिष्ठिर का कुन्दन-सा खरा उत्तर :
मैं निष्काम प्रेम का पथिक हूँ

स्वामी विवेकानन्द जी महाराज युधिष्ठिर की धर्म-निष्ठा और निस्वार्थ ईश्वर-भक्ति के बड़े प्रशंसक थे। उन्होंने शिकागो की सर्वधर्मपरिषद् में 'हिन्दू धर्म' पर विश्वप्रसिद्ध निबन्ध पढ़ा था यह घटना १९ सितम्बर १८९३ ई. की है। स्वामीजी युधिष्ठिर-द्रोपदी के संवाद के विषय में कहते हैं –

(वन में) एक दिन सम्राज्ञी (द्रौपदी) ने उनसे प्रश्न किया – "मनुष्यों में सर्वोपरि पुण्यवान होते हुये भी आपको इतना दु:ख क्यों सहना पड़ता है?

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया – "महारानी! देखो यह हिमालय कैसा भव्य और सुन्दर है। मैं इससे प्रेम करता हूँ, किन्तु यह मुझे कुछ नहीं देता। मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि मैं भव्य

और सुन्दर वस्तु से प्रेम करता हूँ और इसी कारण मैं उससे प्रेम करता हूँ। उसी प्रकार मैं ईश्वर से प्रेम करता हूँ। वह अखिल सौन्दर्य, समस्त सुषमा का मूल है। वही एक ऐसा पात्र है, जिससे प्रेम करना चाहिये। उससे प्रेम करना मेरा स्वभाव है और इसीलिये मैं उससे प्रेम करता हूँ। मैं किसी बात के लिये उससे प्रार्थना नहीं करता, मैं उससे कोई वस्तु नहीं माँगता। उसकी जहाँ इच्छा हो मुझे रखें। मैं तो सब अवस्थाओं में केवल प्रेम के लिये ही उस पर प्रेम करना चाहता हूँ, मैं प्रेम में सौदा नहीं कर सकता –

नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत ।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ।।
धर्म एवं मनः कृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम् ।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् ।।
(महाभारत, वनपर्व अ. ३१ श्लोक सं. २, ५ ।.)

(पृ ६२२; विवेकानन्द-साहित्य खण्ड १, पृ. १३-१४)

ऐसी थी महाराज युधिष्ठिर की ईश्वर-भक्ति और उनका निष्काम प्रेम।

अन्य महत्वपूर्ण लेख हैं 'श्रीकृष्ण का मौलिक आविष्कार – निष्काम कर्म और निरपेक्ष कर्त्तव्यनिष्ठा।' भगवद्‌गीता के अनुकरण पर बनी विभिन्न गीताओं का उल्लेख इस अध्याय में है। इसके बाद भगवद्‌गीता का पश्चिमी जगत पर प्रभाव नामक महत्वपूर्ण निबन्ध है। इसमें अनेकों १८ पाश्चात्य विद्वानों के विचार हैं, जिन्होंने गीता की प्रशंसा की है तथा उसकी सार्वभौमिकता का प्रतिपादन किया है। गीता पर विचार प्रकट करते हुये पाश्चात् विद्वान इमरसन कहते हैं – "मुझ पर गीता का महान उपकार है। यह ग्रन्थों में अग्रगण्य है। यह हमें एक सम्राट की भाँति निर्देश देती है, इसका स्वर पुरातन मनीषा का है। इसका सन्देश उदात्त, पवित्र और शाश्वत है। भिन्न युग और परिवेश में दिया गया यह उपदेश हमारे लिये उतना ही समीचीन है।" अमेरिकी अतिन्द्रियवादी हेनरी डेविड थारो अपने ग्रन्थ 'वाल्डो' में गीता की प्रशंसा में कहते हैं – "प्राचीन युग की सभी स्मरणीय वस्तुओं में भगवद्‌गीता से श्रेष्ठ कोई भी वस्तु नहीं है। ... गीता के साथ तुलना करने पर जगत का आधुनिक समस्त ज्ञान मुझे तुच्छ लगता है। ... मैं नित्य प्रातःकाल अपने हृदय और बुद्धि को गीता रूपी जल से स्नान कराता हूँ।" जर्मनी के बान्न विश्वविद्यालय के प्रो. ऑगस्ट विल्हेम फॉन श्लीगल के गीता के प्रति विचार प्रशंसनीय हैं – "संसार में जितने भी ग्रन्थ हैं, उनमें भगवद्‌गीता जैसे सूक्ष्म और उन्नत विचार कहीं नहीं मिलते। जिस समय मैंने इसे पढ़ा, उस समय मैं विधाता का सदा के लिये ऋणी बन गया कि उन्होंने मुझे इस ग्रन्थ का परिचय प्राप्त करने के लिये जीवित रखा था।" (ज्योतिर्मय जना. पृ-६४२-४३) 'भगिनी निवेदिता और उनका भारतीय संस्कृति में योगदान नामक लेख भी बहुत महत्त्वपूर्ण जानकारी देता है।

ग्रन्थ के चतुर्थ भाग में ९ अध्याय और ९ निबन्ध हैं। यह अध्याय श्रीकृष्ण और उनकी भगवद्‌गीता का योग से सम्बन्धित है। पहला अध्याय है – 'राष्ट्र-निर्माताओं के प्रेरणास्रोत श्रीकृष्ण और गीता'। श्रीकृष्ण जन्मजात क्रान्तिकारी हैं, इससे भारतीय क्रान्तिकारियों को भी प्रेरणा मिली। इसी अध्याय में राष्टकवि रामधारी सिंह दिनकर जी द्वारा प्रणीत विराट-रूप दर्शन का ओजस्वी उद्धरण प्रस्तुत है –

सच है विपत्ति जब आती है, कायर को ही दहलाती है ।
शूरमा नहीं विचलित होते, क्षण एक नहीं धीरज खोते ।
विघ्नों को गले लगाते हैं, काँटों में राह बनाते हैं ।
मुख से न कभी उफ कहते हैं,संकटका चरण न गहते हैं ।
जो आ पड़ता सब सहते हैं, उद्योग निरत नित रहते हैं ।
..मानव जब जोर लगाता है, पत्थर पानी बन जाता है ।।.
(ज्योति. जना. पृ-६६६-६७)

उसके बाद 'युद्ध क्षेत्र में गाया गया गीत' नामक निबन्ध है, जिसमें अर्जुन के दस नामों का उल्लेख है। दूसरे अध्याय में 'भगवद्‌गीता में क्रान्ति के बीज' और 'स्वाधीनता आन्दोलन में कृष्ण और भगवद्‌गीता' प्रबन्ध है। इस प्रबन्ध के पाद-टीका में बहुत से आचार्यों और भक्त-कवियों का संक्षिप्त जीवन-परिचय भी दिया गया है। इसी में कृष्णभक्त मीरा के एक पद का उल्लेख है, जो ईश्वर-दर्शन की व्याकुलता को दर्शाता है –

कागा सब तन खाइयों, चुन-चुन खइयों मांस ।
दो नयना मत खाइयों, पिय देखन की आस ।।
काका नैन निकार के, ले जा पीय के द्वार ।
पहले दरस दिखाई कै, पीछे लीजो खाय ।। (पृ. ६८७)

अध्याय तीन में श्रीकृष्ण के प्रति बंकिमचन्द्र जी का दृष्टिकोण है। इसमें द्रोपदी के वीरांगना स्वरूप का चित्रण है। तत्कालीन मध्ययुगीन शासकों के प्रति श्रीकृष्ण-भक्त कवियों के विचार नामक एक प्रबन्ध है, जिसमें कुम्भन दास, सूरदास, सिक्ख गुरुओं, श्रीधर और नरहरि आदि के विचार हैं। जैसे कुम्भनदास जी कहते हैं – '**संतन कहाँ सीकरी सो काम**।' शिवाजी के द्वारा लिखित राजा जयसिंह और औरंगजेब का मार्मिक पत्र है।

अध्याय छह में 'स्वाधीनता आन्दोलन और भगवद्‌गीता का योगदान' नामक निबन्ध ३ भागों में है। इसमें लेखक ने आधुनिक काल के अनेकों महान पुरुषों के उद्‌गार उद्धृत किया है। इसकी कुछ झलकियाँ प्रस्तुत हैं। लोकमान्य तिलक ने माण्डले जेल में 'गीता रहस्य' की रचना की। उनका नारा था – 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और इसे मैं लेकर रहूँगा। ग्रन्थ में एक महत्वपूर्ण श्लोक उद्धृत है –

अपहाय निजकर्म कृष्णकृष्णेति वादिनः ।
ते हरेर्द्वेषिणः पापाः धर्मार्थं जन्म यद्धरे ।।

अर्थात् "अपने स्वधर्मोक्त कर्तव्य कर्म को छोड़कर जो लोग केवल 'कृष्ण कृष्ण' कहते हैं, वे हरि (भगवान कृष्ण) के द्वेषी और पापी हैं। क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण का अवतार धर्म की रक्षा के लिये ही होता है।"

इसी अध्याय में स्वामी विवेकानन्द जी का महत्वपूर्ण उद्धरण है – "जिधर से देखोगे श्रीकृष्ण के चरित्र को स्वाँग सम्पूर्ण पाओगे। ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग इन सबके मानो वे प्रत्यक्ष स्वरूप ही हैं। ... अब प्रयोजन है – गीता के सिंहनादकारी श्रीकृष्ण की।"

जेल में गीता पढ़ने वाले क्रान्तिकारी दामोदर चाफेकर, खुदीराम बोस, रासबिहारी बोस के जीवन की मार्मिक घटनाओं का उल्लेख है। स्वामी दयानन्द, महर्षि अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द, क्रान्तिकारी मदनलाल धींगरा, गणेश दामोदर सावरकर, वंचीएयर, मादामकामा, वीर सावरकर तथा भाई परमानन्द जी के जीवन की घटनाओं का उल्लेख है। अध्याय सात लोकमान्य बालगंगाधर तिलक को समर्पित है, जिसमें उनके कृतित्व-व्यक्तित्व पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

अध्याय आठ लेखक के प्रिय एवं परम श्रद्धास्पद स्वामी विवेकानन्द जी को समर्पित है। इस अध्याय में लेखक ने स्वामीजी और उनकी श्रीकृष्ण के प्रति अवधारणा पर विस्तृत प्रकाश डाला है। एक स्थान पर स्वामीजी कहते हैं –

"श्रीकृष्ण दीन, भिक्षुक, पापी, पुत्र, पिता, पत्नी और सभी के भगवान हैं। वे घनीष्ठतापूर्वक हमारे सभी मानवीय सम्बन्धों में प्रविष्ट होते हैं। हर वस्तु को पवित्र कर देते हैं और अन्त में हमें मुक्ति तक ले जाते हैं। वे ऐसे ईश्वर हैं, जो विद्वान और दार्शनिक की दृष्टि से तो ओझल हो जाते हैं, किन्तु शिशुओं और अज्ञानियों के समक्ष प्रकट हो जाते हैं। वे श्रद्धा-भक्ति के ईश्वर हैं, विद्वत्ता के नहीं। गोपियों के लिये प्रेम और ईश्वर एक ही थे। वे तो उसे (ईश्वर को) प्रेम का अवतार मानती थीं। द्वारका में श्रीकृष्ण कर्तव्य की शिक्षा देते हैं, वृन्दावन में प्रेम की।" (पृ-८१२; वि.सा. २/२९४)

स्वामी विवेकानन्द जी की दृष्टि में श्रीकृष्ण की महान देन है समन्वय साधना। वे कहते हैं – "हिन्दू की प्रवृत्ति विभिन्न दर्शनों को नष्ट करने की नहीं होती, अपितु सभी का समन्वय करने की होती है। यदि भारत में कोई नया विचार आता है, तो हम उसका विरोध नहीं करते, केवल उसे ग्रहण करने, उसका समन्वय करने की चेष्टा करते हैं। क्योंकि यह विधि सर्वप्रथम हमारे सन्देश-वाहक, पृथ्वी पर भगवान के अवतार श्रीकृष्ण ने सिखाई थी। ईश्वर के इस अवतार ने स्वयं ही पहले यह उपदेश दिया – 'मैं ईश्वर का अवतार हूँ। मैं सभी ग्रन्थों का प्रेरक हूँ। मैं सभी धर्मों का प्रेरक हूँ।" (पृष्ठ-८२१; वि.सा. १/२७५)

एक अन्य स्थान पर स्वामीजी कहते हैं –"जहाँ भी प्रेम है, आनन्द का एक बिन्दु भी वर्तमान है, वहीं ईश्वर वर्तमान है। क्योंकि ईश्वर रसस्वरूप, प्रेमस्वरूप और आनन्दस्वरूप है।" (पृ. ८२७; वि.सा. ७/१२७)

श्रीकृष्ण के चित्र और चित्रण पर चर्चा भी हुई है। जहाँ स्वामीजी कहते हैं – "श्रीकृष्ण का चित्रण वैसा होना चाहिये, जैसे वे थे, गीता के मूर्तस्वरूप।" (पृष्ठ-८३५)

स्वामीजी के लिये समर्पित इस विशद अध्याय का अवसान उनकी कविताओं पर भगवद्गीता का प्रभाव से होता है।

अध्याय नौ में 'योगी अरविन्द : श्रीकृष्ण तथा गीता' पर निबन्ध है। इसमें अरविन्द द्वारा अलीपुर जेल की महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख है, जिसमें उन्हें श्रीकृष्ण की अनुभूति होती है और उनका संदेश मिलता है। श्री अरविन्द जी के द्वारा ३० अगस्त १९०५ को अपनी पत्नी मृणालिनी के नाम लिखित पत्र का उल्लेख है, जिसमें वे अपने तीन पागलपन से अवगत कराते हैं। एक जगह वे भगवान से प्रार्थना करते हुये कहते हैं – "हे भगवान यदि तुम हो तो, मेरे हृदय की बात जानते हो। तुम जानते हो कि मैं मुक्ति नहीं माँगता, मैं ऐसी कोई चीज नहीं माँगता, जो दूसरे माँग करते हैं। मैं केवल इसी देश को ऊपर उठाने की शक्ति माँगता हूँ। मैं केवल यह माँगता हूँ कि मुझे इस देश के लोगों के लिये जिनसे मैं प्यार करता हूँ, जीने और कर्म करने की आज्ञा मिले और प्रार्थना करता हूँ कि मैं अपना जीवन उनके लिये बलिदान कर सकूँ।" (श्रीअरविन्द पृ-१२५, ज्योति. जना.पृ.-८५३)

ग्रन्थ के अन्तिम पंचम भाग में श्रीकृष्ण के कृतित्व-व्यक्तित्व पर विभिन्न लेखकों द्वारा लिखित लेख हैं। और ४५५ सहायक सन्दर्भ ग्रन्थों का उल्लेख है।

निष्कर्षत: डॉ. श्री रमेशचन्द्र यादव 'कृष्ण' जी का यह महाग्रन्थ अत्यन्त प्रेरक एवं लोकोपकारी है। यह पठनीय और संग्रहणीय है। ग्रन्थ में विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रतिपादित श्रीकृष्ण का जीवन व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय और वैश्विक अनेकों बौद्धिक विवादों और जीवन की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है, जिसकी खोज में आधुनिक व्यक्ति पागल की तरह भटक रहा है। श्री यादवजी ने इतना करके भी कहीं अपने मौलिक अधिकार का दावा नहीं किया यह उनकी विनम्रता एवं निरहंकारिता को प्रदर्शित करता हैं। समीक्षा-निबन्ध के शब्दों की मर्यादा होने के कारण इस ग्रन्थ के साथ मैं पूर्णत: न्याय नहीं कर सका। ग्रन्थानुरूप मुझे अपनी समीक्षा अपूर्ण प्रतीत होती है। पूर्ण करने के प्रयास में कहीं समीक्षा ग्रन्थ का कलेवर धारण न कर ले, इसलिये यहीं अपनी लेखनी को विराम देता हूँ। मैं लेखक को उनकी इस अनुपम कृत्ति के लिये धन्यवाद देता हूँ तथा उनका ग्रन्थाकार विचार पुष्प-संग्रह जगत को अपने सौरभ से सुवासित करे तथा लोक-कल्याण में सहभागी बने, यही भगवान से प्रार्थना करता हूँ। ***

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, स्वामी विवेकानन्द मार्ग,
वृन्दावन – २८११२१, जिला – मथुरा (उ.प्र.)
फोन : ०५६५-२४४२३१० फैक्स तथा फोन : ०५६५-२४४३३१०
E-mail : rkmsvrnd@sancharnet.in, rkmsvrnd@gmail.com
Website : www.rkmsvrind.org

एक निवेदन

वृन्दावन में यमुनाजी के तट पर श्रीरामकृष्ण के एक निष्ठावान भक्त श्री बलराम बोस का एक पैत्रिक उद्यान भवन (फार्महाउस) था, जिसे 'काला बाबू का कुंज'' कहते थे। १८८६ ई. में श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के कुछ काल बाद ही श्रीमाँ सारदा देवी ने यहाँ आकर लगभग एक वर्ष निवास किया। यहीं पर उन्होंने मंत्रदीक्षा देना आरम्भ किया। उनसे सर्वप्रथम दीक्षा प्राप्त हुई श्रीरामकृष्ण-पार्षद स्वामी योगानन्द को। उनके अतिरिक्त स्वामी विवेकानन्द, ब्रह्मानन्द तुरीयानन्द तथा श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्य भी बीच-बीच में यहाँ आकर ठहरा करते थे। १९०७ ई. में रामकृष्ण मिशन का वृन्दावन केन्द्र इसी भवन में औपचारिक रूप से आरम्भ हुआ। यह केन्द्र अब वृन्दावन नगरी में स्थित अपने विशाल परिसर में एक सर्वांगीण अस्पताल चलाता है, जो 'रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम' के नाम से प्रसिद्ध है। 'काला बाबू का कुंज' की पवित्रता एवं महत्ता को देखते हुये, सेवाश्रम के द्वारा काफी काल से इसके अधिग्रहण का प्रयास चल रहा था, ताकि वहाँ एक उपयुक्त स्मारक बनाया जा सके, जिसमें निवास करके संन्यासी तथा भक्तगण वहाँ के आध्यात्मिक परिवेश का लाभ उठा सके। माँ सारदा देवी के निवास से पुनीत मकान का छोटा-सा अंश हाल ही में ३८ लाख रुपयों में खरीदा गया है। पूरी योजना को क्रियान्वित करने के लिये इससे जुड़े हुये बाकी अंश को भी प्राप्त करना आवश्यक है। भवन के इस अंश के अधिग्रहण तथा जीर्णोद्धार पर १ करोड़ ३० लाख का व्यय अनुमानित है।

हम अपने सभी भक्तों और शुभ चिन्तकों से इस पवित्र कार्य में उदारतापूर्वक दान करने का सविनय अनुरोध करते हैं।

चेक/ड्राफ्ट को 'रामकृष्ण सेवाश्रम, वृन्दावन' के नाम से लिखे पते पर भेज दे ये दान इनकम टैक्स की धारा ८० (जी) के धारा के अर्न्तगत करमुक्त हैं।

आपके सहयोग की प्रतीक्षा में।

भवदीय
सुप्रकाशानन्द
सचिव